ईशावास्योपनिषद्

हिन्दी अनुवाद सहित संस्कृतशांकरभाष्य
आनन्दगिरिटीकाका केवल हिन्दी अनुवाद
स्वामी विष्णुदेवानन्दजीकी टिप्पणीका केवल हिन्दी अनुवाद

हिन्दी अनुवादक– स्वामी विष्णु तीर्थ परमहंस

शान्तिमंत्र

ईशावास्योपनिषद्

हिन्दी अनुवाद सहित संस्कृतशांकरभाष्य
आनन्दगिरिटीकाका केवल हिन्दी अनुवाद
स्वामी विष्णुदेवानन्दजीकी टिप्पणीका केवल हिन्दी अनुवाद

हिन्दी अनुवादक- स्वामी विष्णु तीर्थ परमहंस

Published by – Sri Gurudev Ashram, Gandhi Nagar, Street No-14, Ludhiana, Punjab – 141008.

First Edition – , 2022

Copies – 100

Printed at – Graphic Art Ofset Press, At- Nuapatna, Mangalabag, Cuttack, Odisha.

Price – 121.00

Books available at –

1. Sri Gurudev Ashram, Street No – 14, Gandhi Nagar, Ludhiana, Punjab, Pin – 141008, Mob No – 7902057864
2. Sri Harihar Kuteer, Haripur Kalan, (Haridwar) Dist- Dehradun, Uttarakhand.

ईशावास्योपनिषद्

यह ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद के काण्वशाखा तथा माध्यन्दिन- शाखा दोनों का ही चालीसवाँ अध्यायरूप है। इसमें शाखाभेद से कहीं कहीं पाठ भेद भी देखा जाता है। श्रीशंकराचार्य जी महाराज ने काण्वशाखा के ईशावास्योपनिषद् पर दो भाष्य लिखा है। पदभाष्य और वाक्य भाष्य। यह पदभाष्य है। इसका नाम इसके प्रारंभिाक मंत्र के प्रथम पद को प्रतीक मानकर ही रखा गया है।

उप (समीप) नि (नितरां) पूर्वक षद्लृ धातु से उपनिषद् शब्द की निष्पत्ति होती है। षद्लृ धातु का अर्थ विशरण(शिथिली करण) गति (ज्ञान,गमन,प्राप्ति) अवसादन (नाश) अर्थ में होता है।

उपनिये ममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं पुनः।
निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषन्मताः।।

जो मेरी आत्मा को द्वैत रहित ब्रह्म के पास ले जाता है तथा अविद्या और उससे उत्पन्न संसार का नाश करता है, उसे उपनिषद् कहते हैं।

ओम् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

यह शुक्लयजुर्वेद का शान्तिपाठ है। विद्या उत्पत्ति के अन्तराय (विघ्न) नाश के लिए सबसे पहले शान्ति मंत्र का पाठ हो रहा है। अन्वयः - अदः पूर्णम्। इदं पूर्णम्। पूर्णात् पूर्णं उदच्यते। पूर्णस्य पूर्णं आदाय पूर्णं एव अवशिष्यते।

अदः पूर्णम्। अदसस्तु विप्रकृष्टे दूर के पदार्थ को अदस्

शब्द से कहा जाता है। वह पूर्ण है। अदः अर्थात् तत्पद का लक्ष्य ब्रह्म पूर्ण है। अर्थात् आकाश के समान व्यापक है। अपरिच्छिन्न है। वस्तु काल देश परिच्छिन्न से रहित है। इदं पूर्णम्। इदमस्तु सन्निकृष्टे। निकट के पदार्थ को इदं शब्द से कहा जाता है। यह पूर्ण है। इदं त्वं पद का लक्ष जीवस्वरूप भी पूर्ण है। शंका - दो वस्तु पूर्ण नहीं हो सकते हैं। वस्तुगत परिच्छिन्नता आ जायगी। इसलिए कहा पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। उदच्यते-उद्रिच्यते-उदेतीति यावत्। पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण जीवस्वरूप का उदय होता है। पूर्णका परिणाम असंभव होने से उससे उत्पन्न जीव औपाधिक है। महाकाश से जैसे घटाकाश की उत्पत्ति देखी गयी है। औपाधिक वस्तु का तथ्य रूप वही होता है, वह जिससे उत्पन्न होती है। निदान (कारण) के अभेद से पूर्ण से उत्पन्न पूर्ण ही है यह भाव है।

शंका - जीव का स्वरूप पूर्ण है यह अनुभव क्यों नहीं होता है। इस पर कहते हैं कि पूर्णस्य पूर्णमादाय - पूर्ण का जो व्यापक स्वरूप उतने मात्र का ग्रहण करके अर्थात् उपाधि अंश को त्याग कर। पश्यतः अवलोकन करने पर इतना जोड़ देना चाहिए। पूर्णमेवावशिष्यते - पूर्ण स्वरूप भासित होता है। घट के साथ आकाश का अवलोकन करने पर अपूर्णत्व भान होने पर भी घट के अंश को त्याग कर अवलोकन करने पर जैसे पूर्णत्व का अनुभव होता है वैसे। तीन शान्ति का पाठ आध्यात्मिकादि त्रिविध उपद्रव शमन के लिए है। आदि में प्रणव घोष वेद उच्चारण नियत है। नियमत है। अर्थात् ओंकार पूर्वक वेद का उच्चारण करना चाहिए यह नियम है। और ओंकार उच्चारण मंगल का विस्तार करता है।

टीका - **येनाऽऽत्मना परेणेशा व्याप्तं विश्वमशेषतः। सोऽहं देहद्वयसाक्षी वर्जितो देहतद्गुणैः।** (ईशावास्य आदि उपनिषद् में विद्याप्रकरण प्रतिपाद्य तत्त्व ही परम मंगल रूप है। उसे स्मरण करते हुए टीकाकार कहते

हैं) जिस परम ईश्वर आत्मा से समस्त विश्व व्याप्त है, वह मैं देह और देह के गुणों से वर्जित दोनों देहों की साक्षी हूँ। (आवरण रहित, अर्थात् कारण शरीर अज्ञान के नाश के बाद भी प्रारब्ध से दोनो शरीर भासित होते हैं, मैं उनके साक्षी हूँ। कारण के न होने पर कार्य कैसे ? इस पर कहते हैं – देह और देह के गुणों से वर्जित हूँ। देह द्वय के अभाव होने पर स्वप्न पदार्थों की भांति मैं उनके साक्षी हूँ।)

टीका – ईशा वास्य इत्यादि मंत्र की व्याख्या की इच्छा से भगवान् भाष्यकार उनके कर्मशेषत्व की शंका का खंडन करते हैं। कुछ कर्मजड (कर्म ही पुरुषार्थ का साधन है और कोई नहीं है इस प्रकार बलवद् आग्रहवाले) मानते हैं कि ईशावास्य आदि मंत्र (कर्म के संबन्धी होने से) कर्मशेष अर्थात् कर्म के अंग हैं। मन्त्रत्व हेतु से। इसे त्वा आदि मंत्रों के समान दृष्टान्त है।(मींमासकों का कहना है कि ‘इषे त्वा इति शाखां छिनत्ति’। याग में प्रयुक्त पुरोडाश के लिए गोदोहन और गोदोहन के लिए वछड़े को हटाने के लिए पलाश दंड की आवश्यकता होती है। इशे त्वा मंत्र कहकर पलाश की शाखा का छेदन किया जाता है।) इसलिए पृथक् (कर्मकांड से पृथक्) प्रयोजन आदि (आदि से विषय संबन्ध आदि) के अभाव के कारण उनकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। (क्योंकि विशिष्ट अनुबन्ध आदि रहित ग्रन्थ फल रहित होने से व्याख्या के योग्य नहीं होते हैं) इसपर भाष्यकार कहते हैं कि – **ईशा वास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ताः।** *ईशावास्य आदि मंत्रों का कर्म में विनियोग नहीं है।*

टीका – अर्थात् इषे त्वा इत्यादि मंत्रों के समान कोई विनियोजक (क्रिया संबन्धबोधक) प्रमाण नहीं है तथा अन्य प्रकरण होने से (कर्म प्रकरण से भिन्न ज्ञान का प्रकरण होने से) ये मंत्र कर्मशेष नहीं है।

पूर्वपक्षी – यद्यपि श्रौत (निरपेक्षो रवः श्रुति- निरपेक्ष शब्द या वाणी को श्रुति कहते हैं) विनियोग का अभाव है फिर भी ‘बर्हिदेवसदनं दामी’ हे देवताओंका निवासस्थान कुशा मैं तुम्हारा छेदन करता हूँ। यहाँ

कुशा के छेदन के प्रकाशन के सामर्थ्य से (लिंग प्रमाण से-अर्थप्रकाशन सामर्थ्यं हि लिंगम्) इस मंत्र का जैसे कुशा उत्पाटन में विनियोग होता है, उसी प्रकार ईशावास्य आदि मंत्रों का कर्म में विनियोग हो सकता है। इस पर भाष्यकार कहते हैं कि **तेषामकर्मशेषस्याऽऽत्मानो याथात्म्यप्रकाशकत्वात्।** *क्योंकि ये मंत्र, अकर्मशेष आत्माका याथात्म्य का प्रकाशक हैं।* टीका - शुद्ध आदि विशेषण वाला आत्माका कर्मशेषत्व में प्रमाण के अभाव से (मैं कर्ता हूँ यह प्रतीति अशुद्ध आत्मा को अवगाहन करता है) वह याथात्म्य न केवल कर्म के अनुपयोगी है अपितु कर्मसे उसका विरोध है इस पर भाष्यकार कहते हैं - **याथात्म्यं चाऽऽत्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगत-त्वादि वक्ष्यमाणम्। तच्च कर्मणा विरुध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनि-योगः।** *शुद्ध, पापरहित, एक, नित्य, अशरीर, सर्वगत इत्यादि आत्मा के याथात्म्य (यथा स्वरूप) का वर्णन आगे अष्टम मंत्र में करेंगे। वह आत्मा के याथात्म्य कर्मसे विरुद्ध है इसलिए यह कहना ठीक है कि ईशावास्य आदि मंत्रों का कर्मों में विनियोग नहीं है।* अर्थात् जो अपने को स्वभाव से शुद्ध, (आगन्तुक अशुद्धि का अभाव अपापविद्ध आदि द्वारा प्राप्त है इसलिए स्वभाव से शुद्ध) आगन्तुक पापों से अननु-विद्ध, सर्वत्र एक (कवित्व आदि विशेषण के भाष्य में उसके उपपादक नान्यतोऽस्ति द्रष्टा कहेंगे उससे सर्वशरीरावच्छिन्नस्य एकत्वं), अशरीर (आगे कहने वाले अकाय को कहते हैं अशरीर) आकश सदृश (सपर्ययात् का अर्थ आकाश सदृश) जानता है, वह कटाक्ष से (निष्पाप अनादर पूर्वक भी प्रायश्चित देखता है) कर्म नहीं देखता है। किन्तु आपातत प्रतिपत्ति (ज्ञान) भी ऐसी कर्म में प्रवृत्ति को रोक देती है। (लोक में प्राप्तव्य अर्थ की अनायास प्राप्ति में सन्देह होने पर प्रयन्त का अभाव देखा जाता है) जो कर्म का शेष होता है वह उत्पाद्य पुरोडाश (जलसे पकाया हुआ आटा का कछुआ के सदृश पिण्ड) आदि, विकार्य (सोमलता के कंडन पेषण

से) सोमरस आदि, आप्य (गुरुमुख से अध्ययन द्वारा प्राप्त) मन्त्रादि, (प्रोक्षण आदि से) संस्कार्य ब्रीही आदि होते हैं। जहाँ उत्पाद्य आदि होते हैं वहाँ कर्मशेषत्व होता है। आत्मा उत्पाद्य आदि नहीं है अतः कर्मशेषत्व नहीं हैं। (व्यापक उत्पाद्यादि के अभाव से व्याप्ति कर्मशेषत्व का अभाव सिद्ध होता है)। और आत्मयाथात्म्य कर्ता और भोक्ता भी नहीं है, जिससे मेरे यह समीहित (उपयुक्त) साधन इसलिए यह मेरा कर्तव्य है इस प्रकार अहंकार अन्वय (संबन्ध) पूर्वक कर्ता का कर्म से अन्वय (संबन्ध) होता इस पर भाष्यकर कहते हैं – **नह्येवंलक्षण–मात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात्।** *इस प्रकार के लक्षण वाला आत्मा का याथात्म्य उत्पाद्य विकार्य आप्य संस्कार्य कर्ता–भोक्ता रूप नहीं है जिससे कर्म का शेष हो।* पूर्वपक्षी – (हुं फट् आदि निरर्थक शब्द सदृश) उपनिषद मंत्रों का जप उपयोगी होने से अन्य (प्रत्यक्षादि) प्रमाण के अदर्शन से ऐसा आत्मा का याथात्म्य नहीं है ऐसी शंका होने पर भाष्यकार कहते हैं **सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैवोपक्षयात्।** *सभी उपनिषद् आत्मा के याथात्म्य के प्रतिपादन में उपक्षीण है अर्थात् सार्थक है।* जो शब्द का तात्पर्य है वह शब्दार्थ होता है, यह मींमासा में प्रसिद्ध है। सभी उपनिषदों का ऐकात्म्य (यहाँ शुद्ध आदि समस्त विशेषणों का संक्षेप से निष्कर्ष ऐकात्म्य है) में तात्पर्य देखा गया है इसलिए उपनिषद् जप के उपयोगी है (अनर्थक है अर्थात् विषय से रहित है) यह कह नहीं सकते। **उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये।** उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति (युक्ति) यह छः लिंगो से तात्पर्य का निर्णय होता है। यहाँ पर 'ईशा वास्यं' इस प्रकार (ऐकात्म्य का) **उपक्रम** करके, 'स पर्यगाच्छुक्र...' इसप्रकार (ऐकात्म्य का) **उपसंहार** किया है। (सपर्यगात् यहां तक ब्रह्मविद्या प्रकरण है। इसलिए

उसे उपसंहार कहा है) 'अनेजत् एकं' 'तदन्तरस्य सर्वस्य' इस प्रकार **अभ्यास** है। 'नैनद्देवा आप्नुवन्' इसप्रकार **अपूर्वता** (इन्द्रियादि अगोचरता) का कथन किया है। 'को मोहः कः शोक एकत्वमनु-पश्यतः' इसप्रकार (प्रसंग प्राप्त ऐक्य ज्ञान का) **फल** का कथन किया है। 'कुर्वन्नेवेह' इससे कर्म करते हुए जिजीविषु (जीवित रहने की इच्छावाले) भेददर्शी का असूर्या नाम ते इसप्रकार निन्दा द्वारा ऐकात्म्य दर्शन की **स्तुति** (**अर्थवाद**), 'अस्मिन्नपो मातरिश्वा दधातीति' (हिरण्यगर्भ आदि का नियत प्रवृत्ति अन्यथा अनुपत्ति रूप) **युक्ति** के कथन से (विद्या प्रकरण रूप) उपनिषद का ऐकात्म्य में **तात्पर्य** देखा जाता है। इस प्रकार अन्य उपनिषदों का उपक्रम उपसंहार में एकरूपता अभ्यास अपूर्वता फलवत्व अर्थवाद युक्ति उपपादक छह तात्पर्यलिंग विकल्प समुच्चय से (कहीं एक या दो लिंग कहीं छः लिंग कहीं भेद कहीं अतिदेश विधि से एक युक्ति से) हमने तत्त्वालोक ग्रन्थ में दिखाया है। इस लिए यहाँ प्रयत्न नहीं किया। और भी बलवत्त्व में प्रत्ययसंबाद (तुल्य प्रमाणों में) कारण होता है यह प्रसिद्ध है। (आपका प्रत्यय है कि मंत्र कर्मशेष है और मेरा है कि कर्मशेष नहीं है। वहाँ मेरा प्रत्यय बलवान् है।) उपनिषद अर्थ में गीता आदि संबाद हमारे पक्ष में है। **(उपनीये ममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं पुनः निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिष-न्मताः)।** जो मेरी आत्मा को द्वैत रहित ब्रह्म के समीप ले जा कर अविद्या और उससे जनित संसार का नाश करता है, इसलिए उपनिषद् कहा गया है। संसार के हेतु अविद्या को नितरां-अच्छी तरह सादयति-नाशयति-नाश करता है। नहीं तो उप अर्थात् आत्मा के समीप में प्रतिपादक रूप से निषीदति-बैठता है-रहता है, इस व्युत्पत्ति से आत्मा के याथात्म्य का प्रतिपादकता उपनिषद् शब्द का यह अर्थ लाभ होता है) इसलिए उपनिषद के पदों के समन्वय से अवगत ऐकात्म्य (प्रत्यक्षादि) प्रमाणान्तर से अपलाप नहीं किया जा सकता है। जैसे दूसरे इन्द्रियों से अनवगत रूप चक्षु इन्द्रिय से अवगत होता हुआ उसका अपलाप नहीं किया जा सकता है।

इसलिए ऐकात्म्य का अपलाप नहीं हो सकता। (शंका - आपका दृष्टान्त विषम है। दूसरे इन्द्रियों से रूप उपलब्ध नहीं होता है इसका मतलब नहीं कि रूप नहीं है, क्योंकि दूसरे इन्दियों का उसमें योग्यता नहीं है। प्रसंग में तो ऐसा नहीं है। क्योंकि मैं कर्ता,सुखी,दु:खी हूँ, यहाँ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की योग्यता होने से आपके कहे गये याथात्म्य के न दीखने से खंडित हो जाता है ? उत्तर - 'यन्मनसा न मनुते' 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं' इत्यादि श्रुति से अन्य इन्द्रियों से जैसे रूप नहीं दीखता है वैसे उपनिषद अतिरिक्त प्रमाणों का आत्मा में अयोग्यता सिद्ध ही है। मैं कर्ता हूँ इस प्रकार की प्रतीति में तो आत्मा में अध्यस्त अन्तःकरण का ही कर्तृत्व आदि धर्म स्वप्रकाश साक्षी द्वारा स्फूरण होता है। यह बात भाष्यकार जी ने विस्तार पूर्वक विचार से वहाँ-वहाँ उपपादन करेंगे।) इस पर भाष्यकार कहते हैं - **गीतानां मोक्षधर्माणां चैवंपरत्वात्।** *गीता और मोक्ष धर्मशास्त्र भी ऐकात्म्य का प्रतिपादन करते हैं।* **'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति'** विनाशशील समस्त प्राणियों में स्थित एक अविनाशी परमेश्वर को जो अपने से अभिन्न जानता है वह जानता है, इत्यादि गीता वाक्य ऐक्य दीखा रहे हैं। **'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।।'** ब्रह्मविन्दु उपनिषद् - सभी प्राणियों में एक ही परमात्मा स्थित है। वह एक होते हुए अनेक रूप में जल में चन्द्रमाके समान दीख रहा है, इत्यादि मोक्षशास्त्रों में ऐकात्म्य परक देखा गया है।

यदि आत्मतत्त्व इस प्रकार है तो अधिकारी के अभाव से कर्मकाण्ड का उच्छेद हो जायगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए इस पर कहते हैं - **तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वा-पापविद्धत्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि।** *इसलिए आत्मा का अनेकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि और अशुद्धत्व, पाप विद्धत्व आदि ग्रहण करके लौकिक बुद्धि से सिद्ध, कर्मों का शास्त्र में विधान है।* अर्थात् जो अज्ञानी आत्मा में नानात्व स्वीकार करते

हैं, आत्मा को कर्ता–भोक्ता, अशुद्ध और पापी मानते हैं, उनके लिए शास्त्रों में कर्म का विधान है। उपनिषद गम्य आत्मा का याथात्म्य जानने वालों के लिए कर्मकांड अप्रमाण है। (अप्रमाण अर्थात् अनादर है क्योंकि तात्त्विक प्रमाण का अभाव है)। जैसे 'न हिंस्या– त्सर्वा भूतानि' इस निषेध शास्त्र से निश्चयवाला पुरुष के लिए श्येन याग आदि विधि अप्रमाण है, किन्तु तीव्र क्रोध से आकान्त अन्तकरणवालों के लिए श्येनयाग विधि प्रमाण है, वैसे मिथ्या आत्मदर्शी (आत्मा को कर्ता भोक्ता मानने वाले) के लिए कर्मविधि प्रमाण है। यहाँ जैमिनि आदि की सम्मति कहते हैं –

यो हि कर्मफलेनार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनाऽदृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजातिरहं न काणकुब्जत्वाद्यनधिकारप्रयोजकधर्मवानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्मस्विति ह्यधिकारविदो वदन्ति। *कर्म में किसका अधिकार है इस पर मींमासा शास्त्र में अधिकार को जाननेवाले जैमिनि आदि आचार्यों का कहना है कि जो ब्रह्मवर्चस् आदि दृष्ट फल और स्वर्ग आदि अदृष्ट फल चाहता है, मैं द्विज हूँ, काणा कुब्जा आदि अनधिकार प्रयोजक धर्मवाला नहीं हूँ, इस प्रकार अपने को मानता है, वह कर्म में अधिकारी है।* टीका – (अर्थी दक्षो द्विजोऽहं बुध इति मतिमान् कर्मसूक्तोधिकारी) अर्थित्वादि युक्त का कर्म में अधिकार जैमिनि कृत मींमासा शास्त्र के छठे अध्याय में कहा गया है । अर्थीत्वादि मिथ्याज्ञान के कारण होता है। आकाश के सदृश निष्क्रिय, स्वभावसे दुःख से असंसर्गी परमानन्द स्वभाव वाला आत्मा का मिथ्या ज्ञान के बिना मुझे सुख हो दुःख ना हो इस प्रकार के अर्थित्व और शरीर–इन्द्रिय सामर्थ्य से मैं समर्थ हूँ इस प्रकार अभिमानित्व संभव हो सकता है। क्योंकि आत्मा के याथात्म्य के प्रकाशक मंत्र कर्मविधि के शेष नहीं है, तथा अन्य प्रमाणों से विरुद्ध नहीं है इसलिए वे प्रयोजन आदि वाले हैं यह सिद्ध हुआ

इसे कहते हैं – **तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेनाऽऽत्म विषयं [१]स्वाभाविकमज्ञानं निवर्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्ति–साधनमात्मैकत्वादिविज्ञानमुत्पादयन्ति। इत्येवमुक्ताधिकार्यभिधेय–सम्बन्धप्रयोजनान्मन्त्रान् संक्षेपतो व्याख्यास्यामः।** *इसलिए ये ईशावास्य आदि मंत्र आत्मा के याथात्म्य का प्रकाशन के द्वारा आत्मा को विषय करने वाला स्वभाविक (अनादि सिद्ध) अज्ञान का निराकरण करते हुए शोक–मोह आदि संसार धर्म को हटाने के साधन आत्मा के एकत्व विज्ञान का उपदेश करते हैं। इस प्रकार कहे गये अधिकारी, विषय, संबन्ध, प्रयोजन वाले मंत्रों का संक्षेपसे व्याख्या करेंगे।* स्वाभाविक– अनादि– सिद्ध। आत्मैकत्व विज्ञान की उत्पत्ति और अज्ञान की निवृत्ति अवान्तर प्रयोजन है। शोकादि संसार का उच्छेदन परम प्रयोजन। उसके इच्छावाले अधिकारी है तथा प्रतिपादकत्व आदि संबन्ध है।

हरिः ओम्। ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। तेन त्वक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।। १।। *हरिः ओम्। इस जगत् में जो कुछ जड़ और चेतन हैं उन्हें ईश्वर बुद्धि से ढ़क देना चाहिए। अर्थात् मिथ्या समझ कर त्याग देना चाहिए। उस त्याग से आत्मा का पालन करना चाहिए। अर्थात् आत्मज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। त्याग के बाद अपना या पराया धन की इच्छा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि धन किसी का भी नहीं होता है।। १।।*

ईशा वास्यमित्यादि। टीका – भाष्यकार श्री शंकराचार्य जी ईशा वास्य इत्यादि मंत्र की व्याख्या की जानी चाहिए इस प्रकार कह कर अब प्रत्येक पद की व्याख्या करते हैं – **ईशा ईष्टे इतीट् तेनेशा।** *ऐश्वर्य अर्थवाला ईश धातु से कर्ता में क्विप् प्रत्यय करके सुबादि का लोप होने पर ईट् ईशो ईशः यह प्रथमान्त रूप हुआ। उसका तृतीया एक वचन में ईशा।* प्रश्न – कर्ता के अर्थ में क्विप्

प्रत्यय विधान से अविक्रिय परमात्मा में क्विप् अन्त शब्द वाच्यता कैसे हो सकती है। इस पर कहते हैं – **ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य।** *परमेश्वर परमात्मा सब का शासन कर्ता है।* टीका – माया उपाधि ईशन कतृत्व संभव होने से (मायिनं तु महेश्वरम् इस श्रुति के अनुसंधान से परमेश्वर पद के अनुरूपता है) क्विप् अन्त शब्दवाच्यता का कोई विरोध नहीं है। (याथात्म्य प्रतिपादक मंत्र का सोपाधि परता कैसे ? लक्ष्य का ही तात्पर्यविषयता है इसे कहते हैं) निरुपाधिक ब्रह्म में पद का लक्ष्यार्थ होगा। अर्थात् ईश शब्दका वाच्यार्थ मायोपाधिक ब्रह्म है और लक्ष्यार्थ शुद्ध ब्रह्म है। तब ईशित्री (शासन कर्ता) और ईशितव्य (शासित) से भेद हुआ (मंत्र का ऐकात्म्य परता नष्ट हुआ) ऐसी शंका होने पर कहते हैं – **स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मा [१]सन्प्रत्यगात्मतया तेन स्वेन रूपेणाऽऽत्मनेशा वास्यमाच्छादनीयम्।** *वह समस्त प्राणियों के आत्मा होते हुए अन्तरात्मा होकर सब को शासन करता है। इससे अपना स्वरूप आत्मा से ईश्वर से वास्य अर्थात् आच्छा-दन के योग्य है।* टीका – (एक में ईशिता और ईशितव्य कैसे संभव है इसे दृष्टान्त से समझाते हैं) जैसे दर्पण आदि में प्रतिबिंबों का आत्मा होता हुआ बिंब रूप देवदत्त शासनकर्ता होता है (प्रतिबिंब की चेष्टा बिंब चेष्टा अधीन होता है), वैसे (जीव और ईश्वर में) कल्पित भेद से शासक और शासित भाव का संभव होने से वास्तविक भेद का अनुमान संभव नहीं है।

१.प्रत्यगात्मतया – प्रत्यक् रूप होनेसे। प्रत्यक् अर्थात् आन्तर। (माया एक होने से माया में प्रतिबिंबित जीव भी एक होना चाहिए इस पर कहते हैं कि जैसे किसी शिल्पी ने शिल्प चतुरता से एक ही दर्पण को उच्च नीच बना देता है उसमें एक ही बिम्ब का अनेक प्रतिबिम्ब देखा जाता है वैसे)। वस आच्छादने इसका रूप वास्यम्। (अनीश्वर को ईश्वर कहना ठीक नहीं इस पर कहते हैं) तत्त्व से ईश्वर आत्मक (स्वरूप) ही सब कुछ है।

भ्रान्ति से जिसे अनीश्वर रूप से ग्रहण किया है, वे सब ईश्वर है, आत्मा है ऐसे ज्ञान से आच्छादन करना चाहिए (विषय करना चाहिए)। अर्थात् इस प्रकार के ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।

किम्। इदं सर्वं यत्किंच यत्किंचिज्जगत्यां पृथिव्यां जगत्तत्सर्वं स्वेनाऽऽत्मनेशेन [1]प्रत्यगात्मतयाऽहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणा नृतमिदं[2] सर्वं चराचरमा[3]च्छादनीयं [4]स्वेन परमात्मना। *क्या ढकना है। यह सब कुछ जो कुछ जगत् अर्थात् पृथिवी में जगत् जड़-चेतन, अपनी आत्मा से अर्थात् अन्तरात्म रूप ईश्वरसे ढ़क देना चाहिए। यह सब चर अचर मिथ्या वस्तुओं को परमार्थ सत्य रूप से मैं ही यह सब कुछ हूँ इस प्रकार अपने स्वरूप परमात्म बुद्धि से आच्छादन करना चाहिए।* १. प्रत्यगात्मत्वात् – सबका अन्तरात्मा होने से। २. परमार्थ सत्यरूपेण स्वेन आत्मना इस प्रकार अन्वय करना। परमार्थ सत्य आत्म बुद्धि से मिथ्या बुद्धि त्याग करना चाहिए यह वाक्य का अर्थ है। परमार्थसत्य इस आत्मा का विशेषण से यह अर्थ है कि चराचर जगत् मिथ्या है अर्थात् व्यावहारिक सत्य है। ३. आच्छादनीय – मित्या बुद्धि से तिरस्कार (त्याग) करना चाहिए। ४. स्वेन – स्व अभिन्न परमात्मा से।

एकादशेन्द्रियैर्युक्त्या शास्त्रेणाप्यगम्यते। यावत्किंचिद्भवेदेतदिदंशब्दोदितं जगत्।।

टीका – भ्रान्ति से जिसे अनीश्वर रूप से ग्रहण किया है, वे सब ईश्वर है, आत्मा है ऐसे ज्ञान से आच्छादन करना चाहिए। अर्थात् इस प्रकार के ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। मैं सर्वात्मक ईश्वर हूँ इस प्रकार जानना चाहिए। (शंका – शालग्राम शीला में विष्णुत्व के उपदेश के समान अनीश्वर जगत का ईश्वर रूप में उपासना के लिए यह उपदेश हो सकता है। यह ठीक नहीं क्यों कि उपनिषद ऐकात्म्य परक है। उपासना का देवलोक प्राप्ति फल है ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह तत्त्वपदेश है) यह तत्त्व उपदेश छान्दोग्य में तत्त्वमसि के समान है, यह अर्थ है। (शंका – 'मनो ब्रह्म इति उपास्य' के जैसे तत्त्वमसि महावाक्य

में भी आत्मा को ब्रह्म रूप से उपासना करनी है ? इस पर कहते हैं) **'ब्रह्मैव सर्वमात्मैव सत्प्रकाशाविशेषतः। हेयोपादेयभावोऽयं न सन्स्वप्नवदीर्यते।'** सबकुछ ब्रह्म है, आत्मा है क्योंकि सभी में ब्रह्म की सत्ता और प्रकाश भासित होता है। (सत् चित् ब्रह्म से अभिन्न सब है और जाने जाते है इस प्रकार सत्ता और स्फुरण से अनुबिद्ध होकर प्रतीत होने से इदम् अनुविद्ध हो कर प्रतीत सर्प जैसे रज्जु से अभिन्न है वैसे अभिन्न है।)(सत्प्रकाशविशेषतः इस प्रकार पाठान्तर होने से उसका अर्थ है - सत् ब्रह्म का स्फुरण विशेष के कारण यह हेय उपादेय भाव जैसे स्वप्न में एक हि द्रष्टा के उस उस रूप में स्फुरण से हेयत्व और उपादेयत्व, सत् नहीं, असत् है, इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी कहते हैं)। (शंका- सब कुछ ब्रह्म है तो प्रतीत होने वाले हेयोपादेय भाव की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। जो हेय है वह उपादेय नहीं हो सकता। और भी जब सब कुछ ब्रह्म है तो देह को आत्मा मानने वालों ने क्या अपराध किया है इस पर कहते हैं-) विषयों में जो त्याज्य और ग्राह्य भावना है वह सत्य नहीं किन्तु स्वप्न के सदृश मिथ्या है यह ब्रह्मज्ञानीओं ने कहा है। (कहा जाता है वाचारंभण श्रुति से नाम मात्र से कहा जाता है।) और भी कहा है **'न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति न विकल्पोऽस्ति तत्त्वतः। नित्यप्रकाश एवास्ति विश्वाकारो महेश्वरः।'** तत्त्व से अर्थात् परमार्थ से न बन्धन है न मोक्ष है न विकल्प (संसार) है। नित्य प्रकाश महेश्वर ही विश्व रूप में विद्यमान है। (अर्थात् नित्य प्रकाश आत्मा ही विश्व रूपसे विवर्त हो कर बन्ध आदि रूप में भास रहा है। बन्ध आदि वस्तु सत् नहीं है यह वाक्य का अर्थ है।)

जिस मन्द अधिकारी का आचार्य के उपदेश मात्र से (शुद्ध अन्तःकरण होने से अपने प्रयत्न के बिना अतिशय श्रद्धा से गुरु उपदेश मात्र से) मिथ्या दृष्टि का तिरस्कार न हुआ है उसका विचार आदि प्रयत्न से (विचार- सर्वात्मा ईश्वर हूँ ऐसी भावना। प्रयत्न- बार बार दूहराना) तत्त्व का प्रकाश होने पर मिथ्या दृष्टि का तिरस्कार होता है इस अभिप्राय से दृष्टान्त देते हैं - **यथा चन्दनागर्वादिरुदकादि-**

संबन्धजक्लेदादिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिघर्षणेनाऽऽच्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन। *जैसे चन्दन अगरु आदि जल के संपर्क से, कुछ सड जाने पर, उसमें औपाधिक दुर्गन्ध आ जाती है और चन्दन आदि को घीसने पर, उनके पारमार्थिक सुगन्ध से वह दुर्गन्ध आच्छादित हो जाती है।* टीका – चन्दन अगरु आदि का जल आदि संबन्ध से गीलापन से उत्पन्न औपाधिक दुर्गन्धी मिथ्या है, और जैसे उसके स्वरूप के घर्षण से उसके स्वाभाविक सुगन्ध के अभिव्यक्त होने पर आच्छादित हो जाता है वैसे विचार आदि से (सर्वात्मक ईश्वर हूँ इस प्रकार की भावना से) स्वरूप के सद्भाव से (आत्मा के स्वरूप शुद्धत्व अकर्तृत्व आदि के स्वाभाविक रूप से होने से) मिथ्याबुद्धि की बाधकता संभव है इस पर कहते हैं – **तद्वदेव हि स्वात्मन्यध्यस्तं [1]स्वाभाविकं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद्द्वैतरूपं जगत्यां पृथिव्यां जगत्यामित्[2]युपलक्षणार्थत्वात्सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया [3]त्यक्तं स्यात्।** *वैसे ही आत्मा में अध्यस्त स्वाभाविक (आविद्यक) कर्तृत्वभोक्तृत्व आदि लक्षण वाला द्वैतरूप जगत् को तथा जगत में अर्थात् पृथिवी में, यहाँ जगत्यां यह उपलक्षण होने से अर्थात् निःशेषता अर्थ बताने के लिए होने से, सब कुछ नाम रूप कर्म भेद से अनेक भाव में विभक्त विकार समूह, परमार्थ सत्य आत्म भावना से त्याग करने योग्य है।* १. स्वाभाविक – अनादि अविद्या रूप उपाधि से प्रयुक्त। २. शंका– जगत्यां वास्य कहने से जगत् वास्य नहीं है। जगत् में जगत् नहीं है। इस पर कहते हैं जगत्यां यह उपलक्षण के लिए है। निःशेषता (समस्त) बताने के लिए यह अर्थ है। वस्तुतः जगत्यां का अर्थ पृथिवी ही नहीं है किन्तु भुव आदि लोकों का भी ग्रहण है इसलिए कहा लपलक्षणार्थ।) ३.त्यक्त – बाधित।

टीका – स्वभाव अर्थात् अनादि अविद्या और उसके कार्य, बाध के योग्य है, यह दीखाने के लिए स्वाभाविक (स्वाभाविक इत्यादि

शब्द प्रकार वचन इससे आत्मा में अध्यस्त इति पूर्व उक्त विशेषणों का संग्रह) विशेषण दिया है। (बाधः मिथ्यात्वनिश्चयः)

इस प्रकार विचार आदि प्रयत्न करने वालों के लिए मिथ्या दृष्टि का तिरस्कार की संभावना कह कर, युक्ति में अनभिज्ञ का मेरे सहित यह सबकुछ ईश्वर है इस प्रकार भावना में जो अधिकारी है उसके लिए तथा विचार में जो अधिकारी है उसके लिए समस्त कर्म के संन्यास में अधिकार है यह वात तेन त्यक्तेन मंत्र में त्याग के परामर्श (विधान, कथन) से यहाँ विवक्षित है। (स्पष्ट विधि का अभाव होने से युक्ति देते हैं) **'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्।'** अन्यत्र कहा है कि त्याग करने वाले के द्वारा, त्याग करने वाला का वह प्रत्यक् (आन्तर) पद जानने योग्य है। पुत्र आदि एषणा चित्त विक्षेप के हेतु रूपमें प्रसिद्ध होनेसे, इस अभिप्राय से कहते हैं – **एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु।** *इस प्रकार आत्मा में ईश्वर भावना से युक्त पुरुष के लिए पुत्र आदि तीनों एषणा के त्याग में ही अधिकार है परन्तु कर्म में अधिकार नहीं है।*

टीका – करने के इष्ट (विधान करने के इष्ट) संन्यास की स्तुति करते हैं – **तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः। न हि[1] त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वाऽऽत्मसंबन्धिताया अभावादात्मानं पालयत्यतस्त्यागेनेत्यय-मेव वेदार्थः। भुंजीथाः [2]पालयेथाः।** *श्रुति में जो त्यक्तेन कहा, उसका अर्थ त्यागेन अर्थात् त्यागसे समझना चाहिए। आत्मा से संबन्ध के अभाव होने से त्यक्त या मरे हुए पुत्र या भृत्य आत्मा का पालन नहीं कर सकता। इसलिए त्यागेन इस प्रकार यह वेद का अर्थ है। भुंजीथा का अर्थ पालयेथा है। (अर्थात् उस त्याग से आत्मा का पालन करें। आत्मा का पालन करें अर्थात् आत्मा के स्वरूप में अवस्थान करें।)* १. तत् शब्द का पूर्व जगत् पद का परमर्श हो रहा है इसलिए त्यक्तेन तेन जगता

ऐसा अर्थ करना चाहिए तो फिर उस त्यागसे ऐसा अर्थ कैसे करते हो इस पर कहते हैं - न ही इत्यादि। २. पालयेथाः - आत्मानं इतना जोड़ देना चाहिए। पालन अर्थात् स्वरूप में अवस्थान करना।

टीका - त्याग से आत्मा की रक्षा करें। त्याग, निष्क्रिय आत्मस्वरूप अवस्थान के अनुकूल है। (आत्मस्वरूप अवस्थान ही आत्मा की रक्षा है)। संन्यासी को शरीर धारण उपयुक्त कौपीन आच्छादन भिक्षाशन के अतिरिक्त (पूर्व वासना या कुसंग के कारण) किसी अन्य द्रव्य के संग्रह में आसक्ति हो तो इसके निरोध में प्रयत्न करना चाहिए।

प्रधान विरोधी होने से (यह पदार्थ संग्रह की इच्छा, भावना या विचार रूप प्रधान कर्तव्यता के विरोध होने से) अर्थात् इस अभिप्राय से [1]नियमविधि कहते हैं - **एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः। गृधिमाकाङ्क्षां मा कार्षीर्धनविषयाम्। कस्यस्विद्धनं [2]कस्यचित्परस्य स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षीरित्यर्थः। स्विदित्यनर्थको निपातः।** *इस प्रकार एषणा को त्याग करने वाला तू धन विषयक इच्छा मत कर। किसी अन्य का या अपने धन की इच्छा न कर यह अर्थ है। स्वित् यह बिना अर्थ वाला निपात है।* १. नियमविधि - विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति। तत्राचान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते। अत्यन्त अप्राप्ति में सामान्य विधि या अपूर्व विधि होती है, 'ब्रीहीन् प्रोक्षति'। एक पक्ष में प्राप्त होने पर नियमविधि 'ब्रीहिन् अवहन्ति' नाखून से भी छिलके निकाले सकते है। और उभय पक्ष में प्राप्त होने पर परिसंख्या विधि होती है, 'पंचपच नखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव'। अपूर्व विधि के अन्तर्गत उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग और अधिकार विधि चारों अन्तर्गत है। नियम, परिसंख्या विधि में विनियोग विधि अन्तर्गत है। उत्पत्ति विधि 'अग्निहोत्रं जुहोति, कर्मस्वरूप की कर्तव्यता प्रथमतः विदित होता है। विनियोग विधि 'दध्ना जुहोति' अंगप्रधान संबन्ध ज्ञापक विधि, प्रयोगविधि अंगों का क्रम बोधक विधि, अधिकार विधि 'यजेत स्वर्गकामः' किसका अधिकार है। २. कस्यचित् - कस्यापि। टीका - कस्यस्वित् का अर्थ कस्यचित् करने के बाद फिर उसे अनर्थक कहना ठीक नहीं है इस पर कहते हैं-)

कस्यस्विद्धनं यहाँ स्वित् इस निपात (चादयोऽसत्वे - अद्रव्य अर्थ वाले च आदि निपात कहलाते हैं) का सामान्य अर्थ (चित् कस्यचित्) होने पर भी कस्यस्विद् का वितर्क अर्थ अन्यत्र प्रसिद्ध है। (जैसे कस्यस्विदयं अश्वः यह घोड़ा किसका है) वह अर्थ यहाँ ग्रहण नहीं होता है इसलिए अनर्थक (बिना अर्थवाला) कहा गया है। (मेदिनी कोश में कहा है - स्वित्प्रश्ने च वितर्के च तथैव पादपूरणे।) व्यवहार दृष्टि से आत्मा का ही यह सब शेष है क्योंकि जड़, चेतन के परतन्त्र है। इसलिए अप्राप्त विषय में आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। पारमार्थिक दृष्टि से तो आत्मा ही सब कुछ है इसलिए आकांक्षा के कोई विषय है ही नहीं।
अथवा मा गृधः। कस्मात्। कस्यस्विद्धनमित्याक्षेपार्थो न कस्यचिद्ध-नमस्ति यद् गृध्येत। *अथवा आकांक्षा मत कर। क्योंकि धन किसका है ? अर्थात् धन किसीका भी नहीं है जिसकी आकांक्षा हो।*
आत्मैवेदं सर्वमितीश्वरभावनया सर्वं त्यक्तमत आत्मन एवेदं सर्व [१]मात्मैव च सर्वमतो मिथ्याविषयां गृधि मा कार्षीरित्यर्थः।। १।।
आत्मा ही यह सब कुछ है इस प्रकार ईश्वर भावना से सब त्यागा है (सब का बाध हुआ है), इसलिए आत्मा का ही यह सब कुछ है (व्यवहार दृष्टि से) आत्मा ही यह सब कुछ है (पारमार्थिक दृष्टि) इसलिए मिथ्या विषयक आकांक्षा न कर।। १।।

१. आत्मा एव च यह पुनरुक्ति उपसंहार के लिए होने से कोई दोष नहीं है। जब सब कुछ आत्म रूप से अवलोकित हुआ है तब धन में धनत्व नहीं रहता है और उसके कोई स्वामी नहीं होता है, इसलिए धन, किसीका भी नहीं है जिसकी इच्छा करनी है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ्समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। २।।

अगर जीने की इच्छा है तो अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों को करते हुए सौ वर्षों तक जीनेकी इच्छा करो। इस प्रकार वैदिक

कर्मों के करने रूप प्रकार (मार्ग) से कोई दूसरा प्रकार (दूसरा मार्ग) नहीं है, जिससे तुम निषिद्ध कर्मों से होने वाले पापों से वच सकते हो।।। २।।

टीका – पहले मन्त्र के पूर्वार्ध से तत्त्व का उपदेश किया गया। तृतीय पाद से अपरिपक्व ज्ञान वाले के लिए संन्यास विधि कही गयी (अपरिपक्वज्ञानवाले को विविदिषासंन्यास और परिपक्वज्ञानवाले को विद्वत्संन्यास) चतुर्थ पाद से संन्यासी के लिए नियमविधि कही गयी। इस प्रकार आगे के मंत्र से संबन्ध बताने के लिए प्रत्येक पद की व्याख्या करके संक्षेप से उसका अर्थ कह रहे हैं – [१]**एवमात्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासेनाऽऽत्मज्ञाननिष्ठतयाऽऽत्मा रक्षितव्य इत्येष वेदार्थः। अथेतरस्या[२]नात्मज्ञतयाऽऽत्मग्रहणाया[३]शक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः कुर्वन्नेवेति। कुर्वन्नेवेह निर्वर्तयन्नेव कर्माण्याग्निहोत्रादीनि जिजीविषेज्जीवितुमिच्छेच्छतं शतसंख्याकाः समाः संवत्सरान्, तावद्धि पुरुषस्य परमायु[४]र्निरूपितम्। [५]तथा च [६]प्राप्तानुवादेन यज्जिजीवि- षेच्छतं वर्षाणि तत्कुर्वन्नेव कर्माणीत्ये[७]तद्विधीयते।** *इस प्रकार आत्मज्ञानी (अपरिपक्वज्ञान शुद्ध अन्तःकरणवाले) को पुत्र आदि तीनों एषणाओं का त्याग द्वारा आत्मज्ञान में निष्ठा रखते हुए आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। यह वेद (उपनिषद के प्रथम मंत्र) का अर्थ है। उसके विपरीत दूसरे आत्मा के तत्त्व को समझने में असमर्थ अज्ञानी को (अशुद्ध अन्तःकरणवाले को)यह दूसरा मंत्र उपदेश दे रहा है कुर्वन् आदि। अग्निहोत्रादि कर्मों को करते हुए सौ वर्ष जीवित रहने की इच्छा करें, क्योंकि शास्त्र में मनुष्य की आयु सौ वर्ष निरूपित की गयी है। प्राप्त के अनुवाद से श्रुति कहती है कि जो सौ वर्ष जीवित रहने की इच्छा करता है उसे अग्निहोत्रादि कर्म अनुष्ठान करते हुए जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार श्रुति अज्ञानी के लिए कर्म का विधान करती है।*

१.आत्मविदः – अपरिपक्व ज्ञानवाला अर्थात् शुद्ध अन्तःकरणवाला। २. अनात्मज्ञ – अशुद्ध अन्तकरणवाला। ३. अशक्त का – मैं सर्वात्मक ईश्वर हूँ इस मन के व्यापार में अशक्ति क्या है? जैसे मदिरा मद से अंध का विचार में अशक्ति होती है वैसे मोह मदिरा मद से अंध अज्ञानी को विचार में अशक्ति होती है। ४. निरूपितम् – शतायुर्वै पुरुषः इत्यादि वचनों से। ५. तथा– दूसरे शास्त्र से पुरुष की आयु उतना हि निर्धरण होने से। ६.प्राप्तानुवाद – इस प्रकार वाक्यान्तर से प्राप्त आयु जो स्वतः प्राप्त है और उसकी इच्छा का अनुवाद –उद्धरण करके)। ७. कर्मअनुष्ठान।

एवमेवंप्रकारेण त्वयि जिजीविषति नरे [१]नरमात्राभिमानिनीत एतस्मादग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्तमानात्प्रकारादन्यथा प्रकारा–न्तरं नास्ति येन प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते कर्मणा न लिप्यत इत्यर्थः। [२]अतः शास्त्रविहितानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनी कुर्वन्नेव जिजीविषेत्। *इस प्रकार तुम जो जीवित रहने की इच्छा करते हो, मैं मनुष्य हूँ इस प्रकार अभिमान करते हो, अग्निहोत्र आदि कर्म करते हुए वर्तमान प्रकार से कोई दूसरा प्रकारान्तर नहीं है जिससे अशुभ कर्म द्वारा तुम लेपायमान नहीं होगे। अतः शास्त्र विहित अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए जीवित रहने की इच्छा करो।*

१. नरमात्राभिमानिनी – अर्थात् अकर्ता ब्रह्म मात्र अभिमानी के लिए कर्म नहीं है। २. अतः – अशुभ कर्मों से लेप अभाव के लिए और कोई प्रकार न होने से।

टीका – पूर्वमंत्र से जिसे ज्ञान का विधान हुआ है, उसीके लिए उत्तर मंत्र से कर्म का विधान है। इससे समुच्चय अनुष्ठान में दोनों मंत्रों का तात्पर्य है। इस प्रकार एकदेशी (कोई समुच्चयवादी वेदान्ती) शंका करता है – **कथं पुनरिदमवगम्यते, पूर्वेण मन्त्रेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेत्युच्यते।** *पूर्व मन्त्रसे संन्यासिओं के लिए ज्ञाननिष्ठा कही गयी और दूसरे पूर्व मंत्र से संन्यास में अशक्त को कर्मनिष्ठा कही गयी, यह कैसे जाना*

जाता है। टीका – शुद्ध ब्रह्मज्ञान और कर्म एक अधिकार में नहीं है, क्योंकि ऋतुगमन और त्रिदण्डी धर्म के समान विरुद्ध है, (ऋतुगमन यहाँ गृहस्थ और संन्यासी धर्म जैसा नहीं समझना चाहिए। ऋतौ भार्यामुपेयादिति ऋतु काल में भार्या के साथ सहवास करें यह गृहस्थ के लिए विधान है। अर्थात् इन्द्रियों का अदमन कहा है। और त्रिदण्डी संन्यासी को वाणी, मन और शरीर का दमन करने का विधान है। **'वाग्दण्डोऽथमनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च। यस्यैते विहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते।'** जिसने वाणी, मन और शरीर का दमन किया है उसे त्रिदण्डी कहते हैं। बाहर के त्रिदण्ड धारण आन्तरिक दण्ड के परिचायक हैं। तो यहाँ दमन और अदमन का जैसे विरोध है वैसे ब्रह्मज्ञान और कर्म में विरोध है।) फिर भी क्रमसे एक कर्तृकत्व है ही। (हेतु में सव्यभिचार की शंका करते हैं अस्त्येव से। अथवा दृष्टान्त में साध्यवैकल्य की शंका करते हैं।) ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि नहीं। विशिष्ट रूप भेद और भिन्न अधिकार हेतु से एक कर्तृकत्व संभव नहीं है। (व्यक्तिमात्र एक होने पर भी विशेषण भेदसे विशिष्ट का भेद है एक कर्तृत्व नहीं है। उनके शास्त्रविहित जो धर्म और आचार कहे गये हैं, वे विशेषण हैं और रूप भी भिन्न हैं)। (एकदेशी ग्रन्थोक्त शंकाओं पर कटाक्ष करते हैं) और जो (एकदेशी) ने कहा है कि ज्ञान और कर्म दोनों वेद से विहित होने से तथा दोनों शुद्धि कारक होने से विरोध सिद्ध नहीं होता (विहित होने से पाप का अजनकत्व होना यह शुद्धि है। ब्राह्मण और शूद्र एक साथ एक विछौना में बैठना विरोध होने पर दो ब्राह्मणों का बैठना विरोध नहीं है। वैसे स्वरूप असिद्धि में हेतु है यह भाव है यह प्रयोग है 'शुद्धब्रह्मज्ञानकर्मणी अविरुद्धे शुद्धत्वात् विप्रद्वयवत्'।) वह भी ठीक नहीं। (एकदेशी हेतु में व्यभिचार दिखाते हैं) तब तो ऋतु गमन और त्रिदण्डी धर्म में भी अविरोध होगा। (सिद्धान्ती के कहे व्यभिचार को एकदेशी उद्धार करता है– तदुभयमिति। एक के विहित होने पर शुद्धत्व को हेतु को हेतु बनाते हैं) यदि कहे कि ऋतु गमन और त्रिदण्डी धर्मयह दोनों एक को विधान नहीं है तो फिर जैसे (त्रिदण्डी को मैथुन का) प्रतिषेध से वहाँ (त्रिदण्डीधर्म और ऋतुगमन का) समुच्चय नहीं है वैसे

यहाँ पर भी (ज्ञान और कर्म में भी) 'न कर्मणा न प्रजया' 'नानु-ध्यायाद्बहून्शब्दान्' इत्यादि प्रतिषेध तुल्य अर्थात् समान है। (तुल्यमे-तदिति - ज्ञान और कर्म का भी एक विहितत्व अभाव होने से विशेषण-असिद्ध हेतु है)। (पूर्वपक्षी का कहना है कि) केवल कर्म का निषेध है समुच्चय का निषेध नहीं है। (न समुच्चय इति - ज्ञानी को कर्म का निषेध नहीं और कर्मी को ज्ञान का निषेध नहीं इस प्रकार नैकविहितत्व के अभाव से विशेषण-असिद्ध दोष की असिद्धि- अभाव है)। सिद्धान्ती का उत्तर है कि वहाँ केवल पद का व्यवच्छेद का अभाव है। और समुच्चय विधि का अब तक निश्चय नहीं है इसलिए दोनों मंत्रों का समुच्चय में तात्पर्य नहीं है। इस पर भाष्यकार कहते हैं - **ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरति किम्।** *कहे गये ज्ञान और कर्म का विरोध पर्वत के समान अचल है, इसे क्या स्मरण नहीं करते हो।*

टीका - कर्तृत्व आदि आश्रय वाला कर्म, शुद्धत्व अकर्तृत्व आदि ज्ञान से उपमर्दित (तिरस्कृत) हो जाता है, इस प्रकार संबन्ध ग्रन्थ में (मंत्रों की व्याख्या से पूर्व ग्रन्थ में) कहे गये ज्ञान और कर्म का सह अवस्थान लक्षण विरोध को क्या स्मरण नहीं करते हो, जिससे उनका एकाधिकार की कल्पना करते हो।

मंत्र के लिंग से (जिजीविषा रूप चिन्ह या हेतुसे) उनके (ज्ञान और कर्म के) भिन्न अधिकारत्व की प्रतीति होती है, इस पर कहते हैं - **इहाप्युक्तं यो हि जिजीविषेत्स कर्म कुर्वन्। ईशा वास्यमिदं सर्वं तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनमिति च।** *यहाँ पर भी कहा है कि जो जीवित रहना चाहता है वह कर्म करते हुए रहे। ईश्वर बुद्धि से यह सब कुछ आच्छादन करने योग्य है। त्याग के योग्य है। उस त्याग से आत्मा का पालन कर। अपना या पराया धन की इच्छा न कर।* टीका - जीवित रहने की इच्छा वाले

आसक्त को कर्म का विधान है, और सब ईश्वर ही है ऐसे ज्ञानी को त्याग का विधान है। (मा गृध इत्यादि के मतलब का वर्णन करते हैं) और भी धन से संपन्न को कर्म में अधिकार होता है। प्रथम मंत्र के अर्थ से ज्ञानी अधिकारी को धन की इच्छा का निषेध से कर्म अधिकार का निषेध प्रतीति होती है।

(प्रश्न – ज्ञानी की भी जीवित रहने की इच्छा होती है। वह भी मरना नहीं चाहता है। ज्ञानी को व्याघ्र आदि से डर कर भागते हुए देखा गया है। इसका उत्तर देते हैं –) जिजीविषा हि कर्म के अधिकारी के लिए है ज्ञान के अधिकारी के लिए नहीं है इस पर भाष्यकार अन्य शास्त्र प्रमाण देते हैं – **न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्वीतारण्यमियादिति च पदम्। ततो न पुनरियादिति संन्यासशासनात्।** *ज्ञानी को जीवित रहने की या मृत्यु की इच्छा नहीं करनी चाहिए। जंगल में चले जाय, यह पद है। वहाँ से लौट कर न आएँ। इस प्रकार संन्यास का उपदेश है।* टीका – स्त्री और जन समुदाय से रहित आश्रम, अरण्य का अर्थ है। वहाँ जायें। पद अर्थात् वेदशास्त्र की स्थिति। उस अरण्य वास उपलक्षित संन्यास से कर्म की श्रद्धा से (आसक्ति से) दूबारा लौट कर न आएँ। इस प्रकार जिजीविषा आदि रहितको संन्यास का विधान है। इस कारण से भी एक फल को चाहने वालों के लिए ज्ञान और कर्म उभय में अधिकार नहीं समझना चाहिए इस पर कहते हैं – **उभयोः फलभेदं च वक्ष्यति।** *यहाँ आगे ज्ञान और कर्म दोनों का फल भेद भी कहेंगे।* टीका – को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इस प्रकार कारण के सहित अनर्थ का नाश ज्ञान का फल है, इसे कहेंगे। संसारमंडल के अन्तर्गत ही देश विशेष में स्थित हिरण्यगर्भ पद की प्राप्ति आदि लक्षण वाला कर्म का फल ‘अग्ने नय सुपथा राये इस अन्तिम मंत्र से कहेंगे।

भिन्न अधिकारित्व में नारायण उपनिषद् वाक्य का प्रमाण

देते हैं – [1]**इमौ द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव पुरस्तात्संन्यासश्चोत्तरेण। निवृत्तिमार्गेणैषणात्रयस्य त्यागः। तयोः संन्यासपथ एवातिरेचयति। [2]न्यास एवात्यरेचयदिति च तैत्तिरीयके।** *पुरस्तात् पहले अर्थात् सृष्टिके समय भूत सृष्टि के बाद ये दो मार्ग प्रवृत्त हुए हैं। कर्ममार्ग और संन्यास मार्ग। उत्तर (श्रेष्ठ) निवृत्ति मार्ग से तीनों एषणाओं का त्याग करना चाहिए।* इन दोनों में से संन्यास ही श्रेष्ठतर है। *तैत्तिरीयक शाखा के नारायण उपनिषद में भी कहा है कि संन्यास श्रेष्ठ है।* १. इमौ द्वावेवेति – टीका के अनुरोध से यह नारायण उपनिषद का मालूम पड़ता है। किन्तु अब के पुस्तकों में यह वाक्य नहीं है। इस पर अन्वेषण करना चाहिए ....इत्यादि। २. न्यास एव – तैत्तिरीय शाखा के नारायण उपनिषद के वचन का उद्धरण देते हैं।

टीका – पुरस्तात् अर्थात् सृष्टिकाल में, (निवृत्ति मार्ग प्राथमिक होने से उसकी अपेक्षा प्रवृत्ति मार्ग का पूर्व कालीन होना असंभव होने से पुरस्तात् पद का अर्थ करते हैं। इसलिए भाष्य में उत्तरेण का अर्थ उत्कृष्टेन किया है। उपर्युदीच्यश्रेष्ठेषु उत्तरः – अमरकोश) अनुनिष्क्रान्ततरौ अर्थात् भूतसृष्टि के बाद प्रवृत्त हुए हैं। (दो मार्ग है इसमें हेतु देते हैं) भिन्न अधिकारी होने से दोनों में संन्यास ही अतिरिक्त अर्थात् श्रेष्ठ है क्योंकि वह परमपुरुषार्थ मोक्ष से व्यवधान रहित है अर्थात् निकट है। (अथवा दोनों मार्ग सृष्टि की आदि में प्रवृत्त नहीं हुए हैं। क्योंकि सत्ययुग में निवृत्तिमार्ग के अधिकारी उत्पन्न होते हैं और त्रेता के आरंभ में कर्मअधिकारी इस प्रकार महाभारत में कहा है। यहाँ पर भी ज्ञानमार्ग का कथन पहले और कर्ममार्ग का कथन बाद में कहा है)। व्यास जी का वाक्य भी इसमें प्रमाण है इसे कहते हैं – **द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः। पृवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभावित इत्यादि पुत्राय विचार्य [3]निश्चितमुक्तं व्यासेन वेदाचार्येण भगवता।** *प्रवृत्ति और निवृत्ति यह दो मार्ग हैं, जिनमें वेद प्रतिष्ठित है। यह वेदाचार्य भगवान व्यास जी ने विचार पूर्वक निश्चय करके अपने पुत्र से*

कहा है। **विभागं[२]चानयोर्दर्शयिाष्यामः।** *इन दोनों को हम विभाग पूर्वक दिखायेंगे।। २।।*

१. निश्चितमुक्तं– भिन्न अधिकारित्व का निश्चय करके मार्ग दो हैं यह कहा है। एक ही जानेवाले के लिए दोनों मार्ग का उपदेश विरोध है। २. यहाँ दोनो मार्गों के विषय में संक्षेप से कहा, विभाग पूर्वक हम 'अधं तमः प्रविशन्ति' 'अग्ने नय' इन नवम तथा अंतिम मंत्र के भाष्य में विस्तार पूर्वक इसका कथन करेंगे।

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽवृताः।
ताँ्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः।।

३।। *वे लोक अर्थात् कीट पतंग से ले कर देवता आदि शरीर अज्ञान रूप अन्धकार से व्याप्त हैं। जो कोई आत्महत्यारे होते हैं, अर्थात् आत्मज्ञान से रहित होते हैं वे शरीर छोड़ने के बाद उन्हीं शरीरों को प्राप्त होते है।। ३।।*

टीका – पहला मंत्र (ईशा वास्य) के अर्थ का (अनेजदेकं से ले कर सपर्यगात् तक ६ मंत्रों सें आत्मा का स्वरूप और आत्मज्ञान का फल) विस्तार करने के लिए पहले अज्ञानी की निन्दा की जाती है, (आद्यमंत्र उक्त आत्मविद्या की स्तुति के लिए अज्ञानी की निन्दा की जाती है और स्तुति भी अधिकारी की ज्ञान में प्रवृत्ति के लिए) इसे कहते हैं –

अथेदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते – असूर्याः [१]परमात्मभाव-मद्वयमपेक्ष्य [२]देवादयोऽप्यसुरा[३]स्तेषां च स्वभूता लोकाः असुर्या नाम। [४]नामशब्दोऽनर्थको [५]निपातः। *अब अज्ञानी की निन्दा के लिए यह तृतीय मंत्र का आरंभ होता है। अद्वैत परमात्म भाव की अपेक्षा देवता आदि भी असुर हैं। (असुषु प्राणेषु इन्द्रियेषु रमन्ते इति असुराः – इन्द्रिय जन्य भोगों में रमण करने वालों को असुर कहते हैं)। उनके स्वभूत भोग्यभूत स्वर्गलोक भी असूर्या असुर संबन्धी है। नाम शब्द बिना अर्थवाला निपात है।* १. शंका – अग्निहोत्रादि कर्म करने वाले स्वर्ग आदि देवलोक प्राप्त करते हैं उन्हें भी सामान्यतया असूर्या लोक जाने वाले कैसे

कहते हो ? इस पर कहते हैं परमात्मभाव की अपेक्षा से। २. देवादयो - असु संबन्ध से शून्य अद्वैत आत्मभाव की उपेक्षा करके असुओं में वे रमण करते हैं। प्राण वाचक असु शब्द इन्द्रिय और उनके विषयों में प्रयुक्त हुआ है। ३. 'असूरस्य स्वम्' ४.४.१२३ इस वैदिक सूत्र से असुर शब्द से तद्धित यत् प्रत्यय को समझते हुए उनके स्वभूत लोक असूर्या है ऐसे कहते हैं। स्वभूत अर्थात् भोग्यभूत। ४. अन्यत्र नाम शग्द का अर्थ प्रसिद्ध होने पर भी देवलोक असूर्या नाम से प्रसिद्ध नहीं है इसलिए कहा कि यह अनर्थक निपात है। ५. निपात वाक्य के अलंकार रूप में भी प्रयुक्त होता है इसलिए कोई दोष नहीं है। **ते लोकाः कर्मफलानि लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्ते इति [१]जन्मानि। अन्धेनादर्शनत्मकेनाज्ञानेन तमसाऽऽवृता आच्छादितास्तान्स्थावरान्तान्प्रेत्य त्यक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।** *कर्मफल जहाँ लोकित अर्थात् देखा जाता है अर्थात् भोगा जाता है उसे लोक कहते हैं। अर्थात् अनेक जन्म अर्थात् योनी या शरीर। जो योनी अन्ध अर्थात् अदर्शन रूप अज्ञान अन्धकार से आवृत- आच्छादित है उन स्थावरान्त (देवता से लेकर वृक्ष आदि पर्यन्त) योनियों को वे, इस शरीर को त्याग कर प्राप्त करते हैं। (क्या सभी समान योनि प्राप्त करते* हैं। इस पर कहते हैं - *जैसा कर्म है और जैसा ज्ञान (जैसी उपासना) है उसके अनुरूप देवता, मनुष्य, पशु पक्षी या स्थावर योनि को प्राप्त करते हैं।* १. जन्मानि - शरीराणी। अर्थात् शरीर।

टीका - (यत् शब्द के स्थान पर तत् शब्द का प्रयोग हुआ है।) जिसके द्वारा विहित या प्रतिषिद्ध जैसी देवता आदि की उपसना का अनुष्ठान किया गया है, वह उसके अनुरूप योनि को प्राप्त करता है। **ये के च आत्महनः। आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः। के ते जनाः येऽविद्वांसः।** *वे कौन हैं जो उन आसुरी योनि को प्राप्त करते हैं ? जो भी कोई आत्महत्यारे लोग। आत्मा का हनन करते हैं इसलिए आत्महत्यारे हैं। अर्थात् अज्ञानी मनुष्य।* टीका - अपने पेट में छूरा घोंपने वाले उदरभेदी को आत्मघाती कहते हैं (असह्य दुःख विशेष को

प्राप्त करके प्राण त्याग के लिए चाकू आदि से अपने पेट को फाड़ने वाले को उदरभेदी कहा जाता है।। अर्थात् जो अवैध मार्ग से प्राण त्यागता है। कहा है कि **'व्यापादयेद् वृथाऽऽत्मानं स्वयं योऽग्न्युदकादिभिः। अवैधेनैव मार्गेण आत्म-घाती स उच्यत इति।'** तो अज्ञानी को कैसे आत्महत्यारा कहते हो इस पर कहते हैं – **कथम्। त आत्मानं [१]नित्यं हिंसन्ति।** *अज्ञानी को आत्महत्यारा कैसे कहते हो। क्यों कि वे अज्ञानी नित्य ही आत्मा की हिंसा करते* टीका – अध्यात्म अधिकार में उदरभेदी का प्रसंग न होने से अशुद्धत्व अध्यास से (आत्मा का) तिरस्कार ही आत्महत्या है इस आशय से कहते हैं – **अविद्यादोषेण [२]विद्यमानस्याऽऽत्मनस्ति-रस्करणात्।** *अविद्या दोष के कारण आत्मा के विद्यमान-वास्तविक स्वरूप का तिरस्कार करना ही आत्महत्या है।*

१.आत्महन यहाँ अन्येभ्योऽपि दृश्यते इस सूत्र से ताच्छिल्य में क्विप् प्रत्यय हुआ है। ताच्छिल्य अभाव अर्थ का तो 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेष्वेव' नियम से प्राप्त नहीं। इसका क्विप् का ताच्छिल्य अर्थ में तो 'आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु' इस प्रकार प्रमाण है, इस अभिप्राय से कहते हैं -नित्यमिति। २.विद्यमानस्य - अविद्या में अविद्यात्व यह है कि विद्यमान का अविद्यमान जैसा भाव का संपादन करना। टीका – (शंका – मैं अज्ञानी हूँ यहाँ अज्ञान के सहित आत्मा का भान होने से यह आत्मा का तिरस्कार कैसे हुआ इस पर दृष्टान्त देते हैं) जैसे किसी शुद्ध व्यक्ति पर मित्या अभिशाप (कलंक) लगाना अशस्त्र वध कहा जाता है, वैसे आत्मा में पापीत्व आदि अध्यास भी हिंसा ही है। (अन्यत्र कहा है - **येऽन्यथा सन्तमात्मानमकर्तारं स्वयं प्रभुम्। कर्ता भोक्तेति मन्यन्ते त एवात्महनो जना इति।।** भागवत में – **मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा।।)** (शंका – प्राणवियोग अनुकूल व्यापार को हिंसा कहते हैं तो तिरस्कार को हिंसा कैसे कहते हो) मैं अजर अमर आदि लक्षण वाला हूँ इस प्रकार ज्ञान एवं कथन रूप जो कार्य है वह मृत के समान न दीखने से हनन का औपचारिक प्रयोग है, इस पर कहते हैं- **विद्यमानस्याऽऽत्मनो यत्कार्यं फलमज-**

रामरत्वादिसंवेदनलक्षणं तद्धतस्येव तिरोभूतं भवतीति प्राकृता अविद्वांसो जना आत्महन उच्यन्ते। *विद्यमान आत्मा का जो कार्य अर्थात् फल है अजर, अमर आदि का ज्ञान होना, वह उनके लिए मरे हुए की भांति तिरोभूत होता है इसलिए प्राकृत मनुष्य आत्म हत्यारा कहे जाते हैं।*

टीका - इस आत्महत्या का प्रायश्चित के विधान का दर्शन न होने से संसरण (जन्म, मरण) ही फल है इसे कहते हैं - **तेन ह्यात्महननदोषेण संसरन्ति ते -** *उस आत्म हत्या के दोष से वे अज्ञानी जन्म मरण रूप गति को प्राप्त होते हैं।। ३।।*

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।। ४।। *यह आत्मतत्त्व कंपन से रहित और एक है। परन्तु मनसे भी अधिक वेग वाला है। देवता (इन्द्रियाँ) इसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं। क्योंकि वह पहले से वहाँ प्राप्त (अवस्थित) है। वह स्थिर रहते हुए भागते हुए सब का अतिक्रमण कर जाता है। उस आत्म तत्त्व के रहते हुए, अर्थात् उसकी उपस्थिति मात्र से मातरिश्वा-हिरण्यगर्भ, अग्नि आदि देवताओं के लिए ज्वलन आदि कर्मों का विभाग करता है।। ४।।* टीका - आगे के मंत्र का अवतरण करते हैं(बुद्धि में आरूढ करते हैं) **यस्याऽऽत्मनो हननादविद्वांसः संसरन्ति [१]तद्विपर्ययेण[२] विद्वांसो जना मुच्यन्ते ते [३]नात्महनः [४]तत्कीदृशमात्मतत्त्वमित्युच्यते-अनेजदिति। अनेजत् न एजत्। एजृ कम्पने। कम्पनं चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिस्तद्वर्जितं सर्वदैकरूपमित्यर्थः। [५]तच्चैकं सर्वभूतेषु।** *जिस आत्मा के हनन से अज्ञानी संसार को प्राप्त होते हैं उसके विपरीत विद्वान लोग मुक्त हो जाते हैं, जो आत्म हत्यारे नहीं है; तो उस आत्मा का स्वरूप कैसा है ऐसी शंका होने पर मंत्र में कहा जाता*

है अनेजत् इत्यादि। एजृ धातु कंपन अर्थ में होता है। कंपन का अर्थ चलन अर्थात् अपनी अवस्था से प्रच्युति, उससे रहित सर्वदा एक रूप में अवस्थिति यह अर्थ है। वह आत्मा समस्त प्राणियों में एक है। १. तद्विपर्ययेण– उसके विपरीत। २. पूर्व मंत्र में अवगत अर्थ को हेतु के साथ कहते हैं तद्विपर्ययेण। ३. आत्महनः– अज्ञानी से विलक्षणता को स्पष्ट करते हैं। क्योंकि आत्महत्यारा नहीं है इसलिए मुक्त हो जाते हैं। ४. स्तुति जिज्ञासा को उत्पन्न करती है– कीदृशमिति। ५.तच्चेकं सर्वभूतेषु– **एको देवः सर्वभूतेषु गूढः** इस श्रुति से यह भाव है।) टीका– (शंका– अनेजत् एकं इस प्रकार निरुपाधिक स्वरूप के उपदेश मुमुक्षु के लिए उपयोगी है। मनसे वेगवान् है इस प्रकार सोपाधिक उपदेश का उपयोग कहाँ है इस पर कहते हैं) आत्मतत्त्व एक अविक्रिय है तो कुछ स्वर्ग गमन करने वाले और कुछ नरक को जाने वाले होते हैं इस प्रकार की सांसारिक व्यवस्था कैसे हो सकती है (केचन शब्द से भेद का कथन, और जाते हैं इससे गन्तृत्व का कथन एक अविक्रिय आत्मा में नहीं बन सकता यह अर्थ है) (सांसारिक व्यवस्था– संसार में प्रसिद्ध व्यवस्था या सांसारिकों की व्यवस्था अर्थात् प्रतिनियम) ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि मन उपाधि को लेकर यह व्यवस्था बन सकती है, इस अभिप्राय से कहते हैं – **मनसः संकल्पादिलक्षणाज्जवीयो [१]जववत्तरम्। कथं[२] विरुद्धमुच्यते ध्रुवं निश्चलमिदं मनसो जवीय इति च। [३]नैष दोषः। [४]निरुपाध्युपाधिमत्वे–नो[५]पपत्तेः। [६]तत्र निरुपाधिकेन स्वेनरूपेणोच्यतेऽनेजदेकमिति। मनसो–ऽन्तःकरणस्य संकल्पविकल्पलक्षणस्योपाधेरनुवर्तनाद्[७]।** *यह आत्मा संकल्प आदि लक्षण वाला मनसे भी अधिक वेगवाला है। शंका करते हैं – कैसे परस्पर विरुद्ध बात कही जा रही है, यह आत्मा ध्रुव निश्चल है और मनसे भी द्रुत गति वाला है। यह कोई दोष नहीं है। निरुपाधि और उपाधि वाला होने से संभव है। इनमें से निरुपाधिक अपने स्वरूप से अनेजत्– चलन रहित कहा जाता है। संकल्प विकल्प लक्षण वाला मनका अन्तःकरणका उपाधि के*

अनुवर्तन से,

१.जववत्तरम् – वेगवत्तरं, वेगवाला। २. चोदयति कथमिति – कथं से शंका करते हैं। ३.समाधान देते हैं – नैष इति। ४. निरुपाधि – विरुद्ध कथन प्रामाणिक नहीं होता है। अविरोध के लिए और कोई उपाय नहीं है। ५. उपपत्तेः – यह इष्ट है, क्योंकि स्वरूप से अचल आकाश घट आदि संबन्ध से जाता हुआ सा नजर आता है। ६. किस रूप से किस को कहा है शंका होने पर कहते हैं तत्र इति। ७. अनुवर्तनात् – अनुवर्तन से अर्थात् अनुसरण से अध्यात्मिक तादात्म्य से।

टीका – अनुवर्तनात् – उपाधि के अनुवर्तन से आत्मा विक्रिया आदि व्यवहार का आश्रय है इतना भाष्य में जोड देना चाहिए। (आत्मा मनसे वेगवत्तर है तो मन वेगवाला है उस पर आक्षेप करते हैं) शंका – मन शरीर के अन्दर होने से बाहर जाने के अयोग्य होने से (यह जीव दशामें समझना चाहिए। बाहर निकल जाने पर शरीर काठ या पत्थर जैसे हो जाएगा इसलिए बाहर जाने में अयोग्य है।) उसमें वेगवत्व कैसे है (कफ आदि धातु बाहर निकलते है न कि मन) इस पर कहते हैं – **इह देहस्थस्य मनसो ब्रह्मलोकादिदूरगमनं [१]संकल्पेन क्षणमात्राद्भव–तीत्यतो मनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम्। [२]तस्मिन्मनसि ब्रह्मलोका–दीन्द्रुतं गच्छति सति [३]प्रथमप्राप्त इवाऽऽत्मचैतन्यावभासो गृह्यतेऽतो मनसो जवीय इत्याह।** *यहाँ देह में स्थित मन संकल्प से क्षणभर में ब्रह्मलोक आदि दूर गमन संभव है इसलिए देहस्थ मनका अधिक गति लोक में प्रसिद्ध है। द्रुत गति से ब्रह्मलोक आदि जाते हुए उस मनसे पहले प्राप्त जैसा आत्मचैतन्य के अवभास का ग्रहण होता है। इसलिए मनसे भी द्रुत गति वाला कहा गया है। १.* संकल्पेन – उस विषयक संकल्प ही वहाँ गमन है। देह से बाहर निर्गमन नहीं है। यह भाव है। २. तस्मिन्मनसि – यहाँ ऐसा अर्थ समझना चाहिए कि जीवित अवस्था में दूरस्थ ब्रह्मलोक आदि का संकल्प ही वहाँ जाना है, मरने के बाद देह से निकला हुआ मन का वहाँ जाना होता है। इस प्रकार स्वर्गादि गमन की शास्त्र में जो व्यवस्था दी गयी है वह सही होगी। दृष्टिसृष्टि सिद्धान्त में तो सब कुछ

संकल्प मात्र है, न कोई निर्गमन है न गमन है। ४. प्रथमं प्राप्त एव – ब्रह्मलोक आदि के संकल्पन करते मन का साक्षी रूप से भासमान चैतन्य रूप प्रकाश पहले वहाँ प्राप्त जैसे भान होता है। क्योंकि उसमें गति आदि की प्राप्ति का अभाव है, इसलिए ऐसा कहा है।

टीका – अश्व आदि के समान वेग वाला होने से चक्षु आदि ग्राह्यत्व प्राप्त होता है (आत्मा अश्व आदि के समान वेगवाला होने से वे चक्षु आदि से ग्राह्य होगा तो अनेजत् एक कैसे संभव होगा) इस प्रकार आशंका होने पर कहते हैं – **नैनद्देवा द्योतनाद्देवा[1]श्चक्षुरादीनीन्द्रिया–ण्येतत्प्रकृतमात्मतत्त्वं नाऽऽप्नुवन्न[2] प्राप्तवन्तः। [3]तेभ्यो मनो जवीयो मनोव्यापा[4]रव्यवहितत्वात्। आभासमात्रमप्यात्मनो नैव [5]देवानां विषयी भवति।** *द्योतन–प्रकाशन स्वभाव होने से देव अर्थात् इन्द्रियाँ इस प्रसंगप्राप्त आत्म तत्त्व को प्राप्त नहीं करते। उनसे मन वेग वाला है। इन्द्रियाँ मन व्यापार से व्यवहित हैं।* (मन के व्यापार पूर्वक है)। *आत्मा का आभास मात्र भी इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता है।*

१. चक्षुरादीनि – इन्द्र आदि देवताओं का ग्रहण क्यों नहीं ? मन के निकट होने से इन्द्रियों का ग्रहण हुआ है। २. न प्राप्तवन्तः – प्राप्त नहीं करते अर्थात् आत्मा को विषय नहीं कर सकते। ३.तेभ्यः – यहाँ हेतु देते हैं। ४. मन शीघ्रगामी है इसमें हेतु देते हैं – मनोव्यापारव्यवहितत्वात्। इसे टीका में व्याख्या की है चक्षुरादि की प्रवृत्ति मन व्यापार पूर्वक होती है। ५. नैवदेवानां – मन तो अव्यवहित होने से शुद्ध हो तो आत्मा का आभास ग्रहण करता है, क्योंकि श्रुति में कहा है कि 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' किन्तु इन्द्रियाँ आभास को भी ग्रहण नहीं कर सकते)

टीका – चक्षु आदि की प्रवृत्ति मनके व्यापार पूर्वक होनेसे जब मन का भी वह विषय नहीं है, (आत्मा का अवभास को ग्रहण करता हुआ मन उस आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकता इसलिए आत्मा मन का विषय नहीं है।) फिर चक्षु आदि का विषय होना यह संभव नहीं है। (आगे चलने वाला का अगम्य होने से अनुचर का गमन संभव नहीं होता है यह देखा गया है।) (आत्मा रूप आदि रहित होने से चक्षुरादि का विषय

नहीं है, यह समझना चाहिए।)

टीका - आत्मा मन का विषय (टीका में मनसो वा का अर्थ कहा है। यहाँ वा का अर्थ वितर्क अर्थ में है। 'वा स्याद्विकल्पोपमयोर्वितर्के पादपूरणे' मेदिनी कोष। अत्यन्त अव्यवहित होने से मन का विषय नहीं है।) क्यों नहीं है इस पर कहते हैं - **यस्माज्[1]जवनान्मनसोऽपि पूर्वमर्ष-त्पूर्वमेव गतम्। [2]व्योमवद्व्यापित्वात्। [3]सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्व-संसारधर्मवर्जितं स्वेन निरूपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवतीवाविवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासत इत्येतदाह- तद्धावतो द्रुतं गच्छतोऽन्यानात्मविलक्षणान्म-नोवागिन्द्रियप्रभृतीनत्येत्यतीत्य[4] [5]गच्छतीव। इवार्थं स्वयमेव दर्शयति तिष्ठदिति। स्वयमविक्रियमेव सदित्यर्थः।** *क्योंकि आकाश के समान व्यापक होनेसे, वेग वाला मनसे भी पहले ही गया है। सर्व व्यापक वह आत्मतत्त्व, समस्त संसार धर्मो से वर्जित है, अपने निरूपाधिक स्वरूपसे अविक्रिय होता हुआ उपाधि के कारण समस्त संसार विक्रियाओं को अनुभव करता सा, अविवेकी मूर्खों को, प्रति शरीर अनेक जैसा अवभासित होता है इस पर श्रुति बतला रही है - **तद्धावतो** वह द्रुत गमन करता हुआ, **अन्यान्** आत्मा से विलक्षण मन, वाक् इन्द्रिय आदियों को **अत्येति** अतिक्रमण करके जाता हुआ सा प्रतीत होता है। श्रुति स्वयं ही इव शब्द का अर्थ कह रही है **तिष्ठत्** इस शब्दसे। तिष्ठत् रहता हुआ, अर्थात् स्वयं अविक्रिय रहता हुआ।*

१.जवनात् - वेगशील अर्थात् वेगवान्।... २. आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः-श्रुति। ३. सर्वस्यापी- पूर्वार्ध का संक्षेप करके उत्तरार्ध की व्याख्या करते हैं। ४. अतीत्य गच्छतीवेति - उनसे गृहीत न होता हुआ यह अर्थ है। 'यन्मनसा न मनुते' 'यद्वाचानभ्युदितमित्यादि श्रुतेः) ५. इव शब्द का मंत्र में प्रयोग नहीं है फिर इव शब्द का अर्थ कहाँ से मिला। इस पर कहते हैं तिष्ठत् शब्द से इव शब्द का अर्थ लाभ हुआ है। ...इत्यादि।

टीका – जैसे मन में स्थित परिमाण मन का विषय नहीं है क्योंकि अत्यन्त अव्यवधान (नजदीक) है, इस प्रकार आत्मा भी अत्यन्त अव्यवधान के कारण मनका विषय नहीं है। और भी मन आत्मा से व्याप्त होने से, (परिच्छिन्न होने से जैसे गृह में स्थित मणि परिच्छिन्न होने से ब्रह्माण्ड को प्रकाशित नहीं कर सकता।) आत्मा मन का विषय नहीं है। (चक्षुरादि से अज्ञेय किसी वस्तु की संभावना–अस्तित्व है क्या ऐसी शंका होने पर कहते हैं) ऐसे कहे गये आत्मा की संभावना के लिए युक्ति देते हैं – **तस्मिन्नात्मतत्त्वे[१] सति [२]नित्यचैतन्यस्वभावे मातरिश्वा [३]मातर्यन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा[४] वायुः [५]सर्वप्राणभृत्क्रियात्मको [६]यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि [७]यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत्सूत्रसंज्ञकं [८]सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि, अग्न्यादित्यपर्जन्यादीनां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादिलक्षणानि दधाति [९]बिभजतीत्यर्थः। [१०]धारयतीति वा। [११]भीषाऽस्माद्वात पवत इत्यादि श्रुतिभ्यः।** *उस नित्य चैतन्य स्वभाव आत्मतत्त्व के रहने पर (उसके अस्तित्व से) अन्तरिक्ष में भ्रमण करनेवाला, सभी के प्राण को धारण करनेवाला, क्रियात्मक कार्य करण समूह जिसके आश्रित हैं और जिसमें ओत–प्रोत है, सूत्र नामवाला, समस्त जगत को धारण करनेवाला वह मातरिश्वा वायु, अपः अर्थात् प्राणियोंके चेष्टा लक्षणवाला, अर्थात् अग्नि, आदित्य, पर्जन्य, अग्नि आदि के ज्वलन, दहन, प्रकाश, वर्षा आदि कर्मोका दधाति अर्थात् बिभाजन करता है अथवा धारण करता है। इसके ड़र से वायु वहती है इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है।*

१. आत्मा में कर्म नहीं है और मातरिश्वा में वर्तमान काल का दधाति प्रयोग है। हस प्रकार यथाश्रुत अर्थ बाधित होने से असंभव है इसलिए कहते हैं कि उस आत्मतत्त्व के होने पर मातरिष्वा कर्म फल देता है। २. अनित्य देह आदि का नित्य चैतन्य अधीन चेष्टा देखा जाता है। अतो–ऽन्यदार्तम् – आत्मा से भिन्न सब कुछ अनित्य है इससे हिरण्यगर्भ आदि

अनित्य है यह निश्चय होने से अर्थापत्ति से तस्मिन् शब्द का यह अर्थ लाभ है इसी आशय से कहते हैं – नित्यचैतन्यस्वभावे। ३. मातर्यन्तरिक्षे इति – निरुक्त में निघण्डुकाण्ड में मातरि शब्द का अर्थ अन्तरिक्ष किया है। ४. उणादि सूत्रों में धातु के ईकार लोप से कनिन् प्रत्ययान्त मातरिश्वा शब्द है। मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति श्वनिति वा इति मातरिश्वा। ५. वायुसर्वेत्यादि – लोक प्रसिद्ध वायु का ग्रहण यहाँ ग्राह्य नहीं है, किन्तु वायु उपाधिक हिरण्यगर्भ अर्थ है। 'वायुरेवव्यष्टिर्वायुः समष्टि' यह श्रुति प्रमाण है। ६.यदाश्रयाणीति – 'सहोवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं, वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्चलोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति। तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्यांगानीति। वायुना हि गौतम सूत्रेण सन्दृब्धानि भवन्तीति' इस श्रुति का अनुसंधान करना चाहिए। ७. क्या भूतल में आश्रित घट के समान है, नहीं है। इस पर कहते हैं – यस्मिन्निति। ८. क्या शरीर मात्र आधार यह है। नहीं। इस पर कहते हैं – सर्वस्य जगतो विधारयितृ। **'अराइव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।'** इन श्रुति से यह भाव है। ९. धातूओ के अनेक अर्थ होते हैं, अतः प्रसंग प्राप्त उपयोगी अर्थ कहते हैं – विभजतीति। १०. धारयतीति – स्वयं अग्नि आदि रूप होकर यह अर्थ है। ११. श्रुत्यन्तर का संवाद देते हैं – भीषेति। भीषा – भयसे। अस्मात् – अस्य इसके। इसके भयसे।

टीका – सोमरस, घृत, दूध आदि जलीय तरल पदार्थों से श्रौत कर्मों का संपादन होता है, इसलिए संबन्ध के कारण लाक्षणिक कर्म अर्थ में (लक्षणा से) अप् शब्द का प्रयोग हुआ है। (तो अप शब्द का अर्थ श्रौत कर्म करना चाहिए। इस पर कहते हैं) प्राण की चेष्टा भी जल के कारण होता है यह प्रसिद्ध है। (आपोमयः प्राणः न पिबतो विच्छेत्स्यत इति श्रुतेः – प्राण जलमय है, जल न पीने से प्राण का उच्छेद हो जायगा यह श्रुति वाक्य है)। कारणवाचक शब्द लक्षणा से कार्य में प्रयुक्त हुआ है। (कारण वाचक शब्द जल सोमरस आदि लक्षणा से उसके कार्य कर्म में प्रयुक्त हुआ है। निरुक्तनिघन्टु के द्वितीय अध्याय के आरंभ में अपः, अप्नः, दंसः इत्यादि का पाठ के बाद २६ कर्मनामों का उल्लेख हैं) ईश्वर, हिरण्यगर्भ की नियत प्रवृत्ति अन्यथा अनुपपत्ति से अधिष्ठाता

परमेश्वर की संभावना होती है, यह कहा गया। अब मातरिश्वा का ग्रहण उपलक्षण (प्रधान मल्ल निबर्हण न्याय से) के अर्थ में है, इसे लेकर तात्पर्य कहते हैं – **सर्वा हि कार्यकारणादिविक्रिया नित्यचैत-न्यात्मस्वरूपे [1]सर्वास्पदभूते सत्येव भवतीत्यर्थः।** *कार्य कारण आदि समस्त विक्रिया समस्त आस्पद रूप नित्य चैतन्य आत्मस्वरूप के होते हुए होता है यह अर्थ है।। ४।।*

१. सर्वास्पदभूते – अग्नि में चढ़ाए दूध को गरम करते हुए अग्नि जैसे दूध से पृथक् रहता है वैसे आत्मा पृथक् रहता हुआ कार्य करण में विक्रिया का कारण नहीं किन्तु सबका आस्पद(आधार) होता हुआ।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।। ५।।

वह आत्मतत्त्व उपाधि को ले कर चलता है और निरुपाधिक रूप से नहीं चलता है। वह अज्ञानियों के लिए दूर है और ज्ञानियों के लिए नजदीक है। वह सब के अन्दर है और वह सबके बाहर है।। ५।।

न मन्त्राणां जामिताऽस्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनराह तदेजतीति। तदात्मतत्त्वं यत्प्रकृतं तदेजति चलति तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति स्वतोऽचलमेव सच्चलतीवेत्यर्थः। किं च तद्दूरे वर्षकोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वाद्दूर इव। तत् उ अन्तिक इति [1]च्छेदः। तद्वन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषा[2]मात्मत्वान्न केवलं दूरेऽ-अन्तिके च तदन्तरभ्यन्तरेऽस्य सर्वस्य य आत्मा सर्वान्तर इति श्रुतेः अस्य सर्वस्य जगतो [3]नामरूपक्रियात्मकस्य तदु अपि सर्वस्यास्य बाह्यतो व्यापकत्वादा[4]काशवन्निरतिशयसूक्ष्मत्वादन्तः। *मंत्रों में आलस्य नहीं है इसलिए पूर्व मंत्र में कहे गये अर्थ को फिर से कह रहे हैं तदेजत् आदि। वह आत्मतत्त्व जो प्रसंग से प्राप्त है, चलता है और वह नहीं भी चलता है। स्वभाव से नहीं चलता है। स्वभाव से*

अचल होता हुआ चलता हुआ प्रतीत होता है। और भी वह दूर में, अज्ञानियों से सौ करोड़ वर्षों में भी प्राप्त न होने से वह दूर में है जैसे। तत् उ अन्तिके इस प्रकार पदच्छेद है। और वह विद्वानों की आत्मा होने से (आत्म रूपसे ज्ञात होने से) अत्यन्त समीप में भी है। न केवल दूर में किन्तु समीप में भी है। वह सबके अन्तः अर्थात् अभ्यन्तर-अन्दर है। 'जो आत्मा सर्वान्तर' इस श्रुतिसे [३]नाम रूप क्रियात्मक इस समस्त जगत के अन्दर वह विद्यमान है। वह (उ) भी आकाश सदृश व्यापक होने से सबके बाहर है, तथा निरतिशय सूक्ष्म होने से सबके अन्दर है।

१. च्छेदः - 'निपात एकाजनाङ् इस सूत्र से प्रगृह्य और प्रकृतिभाव का बाध कर 'मयउञोवोवा' इस सूत्र वकार आदेश हुआ है। **पदच्छेदः पदार्थोक्तिः विग्रहः वाक्ययोजना। आक्षेपश्च समाधानं षड्विधं व्याख्यानलक्षणम्।।** २. आत्मत्वात्- आत्मा रूप से ज्ञात होने से। ३. नामरूप - त्रयं वा इदं नामरूप-कर्मेति इन तीनों में जगत का संक्षेप श्रुति में कहा है। ४. सूक्ष्मत्व और व्यापकत्व हेतु से उभय स्थान पर दृष्टान्त है।

टीका - जामिता का अर्थ आलस्य है।(जामिता अर्थात् आलस्य, आलस्य चेतना का धर्म है निर्जीव मंत्रों में आलस्य कैसे संभव है ? इस पर उत्तर है कि मंत्र पद से, तपों से जिनके अज्ञान नष्ट हो गया है, वैसे मंत्रद्रष्टा ऋषि लक्षित है। **युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनु-जाताः स्वयं भूवेति।.......**) व्यापक होने से बाहर है, निरतिशय सूक्ष्म होने से अन्दर है तब (व्यापित्व बाह्यत्व आदि धर्मत्व होने से) प्रमाण अभाव के कारण निरन्तर-एकरस नहीं हो सकता है, (कहीं व्यापित्व को लेकर बाह्य और बाह्यत्व को लेकर व्यापि तथा सूक्ष्मत्व को लेकर आन्तर और आन्तर को लेकर सूक्ष्म इस प्रकार नानारस सिद्ध होता है एकरस नहीं) (व्यापित्व, बाह्यत्व आदि सब उपाधि को ले कर कहते हैं। किसी प्रकार तत्त्व का ज्ञान हो जाय। वास्तविक में तो वह प्रज्ञानघन ही है, नाना रूप नहीं। निरन्तर का अर्थ एकरस है। अर्थात् एकरूप।) ऐसी शंका होने पर कहते हैं - **प्रज्ञानघन एवेति च शासनान्निरन्तरं च।। ५।।**

आत्मा प्रज्ञानघन स्वरूप है इस प्रकार श्रुति में कहा है इसलिए अन्दर बाहर भाव से शून्य देश-काल-वस्तु परिच्छिन्नता से रहित एकरस (एकरूप) अर्थात् निरन्तर है।। ५ ।।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषू चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते।। ६ ।।

जो ज्ञानी अपनी आत्मा में समस्त भूतों (प्राणियों) को देखता है, तथा सभी भूतों में अपनी आत्मा को देखता है, उस विज्ञान से, वह किसी से घृणा नहीं करता है।। ६ ।।

टीका - कहे गये आत्मज्ञान का फल विधि-निषेध से अतीत जीवन्मुक्त स्वरूप से अवस्थान है इस पर कहते हैं- **यस्तु। यः [१]परिव्राड् मुमुक्षुः सर्वाणि [२]भूतान्यव्यक्तादीनि स्थावरान्तान्यात्मन्येवानु-पश्यत्यात्मव्यतिरिक्तानि[३] न पश्यतीत्यर्थः। सर्वभूतेषु च तेष्वेव चाऽऽत्मानं [४]तेषामपि भूतानां स्वमात्मानमात्मत्वेन [५]यथा[६]ऽस्य देहस्य [७]कार्यकरणसंघातस्याऽऽत्माऽहं [८]सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतश्चेतयिता-** *जो परिव्राजक मुमुक्षु अव्यक्त से लेकर स्थावर तक समस्त भूतों को आत्मा में (अपने में) ही देखता है, आत्मा से [३]भिन्न नहीं देखता है यह अर्थ है। तथा समस्त उन भूतोंमें अपनी आत्मा को देखता है। जैसे इस कार्यकरण संघात का मैं आत्मा हूँ वैसे उन भूतों की आत्म रूप से अपनी आत्मा को देखता है। समस्त प्रत्यय (ज्ञान) के साक्षीरूप चेतयिता -*

१.तेन त्यक्तेन इस से कहे गये त्यागवाले को यत् शब्द परामर्श है। इसी अभिप्रायसे कहते हैं परिव्राट् मुमुक्षु। २. भवन्ति इति भूतानि। अव्यक्त तो अनादि है फिर उसमें भूतों का प्रयोग कैसे हो सकता है। इस पर कहते हैं भवन्ति सत्त्वेन प्रतीयन्ते इति भूतानि। अर्थात् जो सत्त्व रूप से प्रतीत होते हैं वे भूत हैं। ३. आत्मनि यह सप्तमी विभक्ति आधार अर्थ में नहीं किन्तु अभेद

अर्थ में सप्तमी विभक्ति है इसे बताने के लिए आत्मव्यक्तिरितानि न पश्यति कहा है। ४.पूर्वार्ध से भूतोंका आत्मा से अभेद की व्याख्या करके तृतीय पाद में विवक्षित प्रतिभूत भिन्न रूप से भासमान आत्माओं का वास्तव अभेद को दिखाते हैं तेषां इत्यादि से। यहाँ सर्वभूतेषु में सप्तमी विभक्ति अभेद अर्थ में है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। ५. अपनी आत्मा का सर्वभूत रूप में दर्शन को दृष्टान्त से समझाते हैं - यथा अस्य इत्यादि से। ६.अस्य देहस्य अर्थात् मुमुक्षु के देह का। ७. देहस्य इसी का व्याख्यान कार्यकरणसंघातस्य। **सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैःसूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यते भाष्यं भाष्यविदो विदुः। उक्तानुक्त-दुरक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वातिकज्ञा मनीषिणः।** जैसे इस देह में उत्पन होने वाले सभी प्रत्ययों का अर्थात् अन्तःकरण के वृत्तियों का मैं साक्षी हूँ। चेतयिता - इस देह का चेष्टयिता-चेष्टा करनेवाला मैं हूँ।

केवलो निर्गुणो[१]ऽनेनैव स्वरूपेणाव्यक्तदीनां स्थावरान्तानामहमेवाऽऽ-त्मेति सर्वभूतेषु चात्मानं [२]निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति[३] [४]स ततः तस्मा-देव दर्शनान्न विजुगुप्सते विजुगुप्सां घृणां न करोति। [५]प्राप्तस्यैवा-नुवादोऽयम्। [६]सर्वा हि घृणाऽऽत्मनोऽन्यददृष्टं पश्यतो भवत्यात्मानं एवात्यन्त[७]विशुद्धं [८]निरन्तरं पश्यतो न घृणानिमित्तमर्थान्तरमस्तीति [९]प्राप्तमेव ततो न विजुगुप्सते। *केवल निर्गुण इस रूप से अव्यक्त से ले कर स्थावर पर्यन्त समस्त भूतों का मैं ही आत्मा हूँ, इस प्रकार समस्त भूतों में निर्विशेष आत्मा को जो देखता है; वह उस दर्श से किसीसे विजुगुप्सा अर्थात् घृणा नहीं करता। प्राप्त का यह अनुवाद है। सारा घृणा आत्मा से भिन्न देखने से होता है। अत्यन्त विशुद्ध निरन्तर आत्मा को देखने वालों के लिए घृणा के निमित्त कोई अन्य वस्तु है ही नहीं। इसीलिए कहे गये घृणा अर्थापत्ति से प्राप्त ही है।*

१.केवल अर्थात् वस्तुतः साक्षित्व आदि धर्म रहित, निर्गुण- ज्ञान, इच्छा आदि गुणों से मुक्त, इस प्रकार शोधित त्वं पदार्थ अपने देह के आत्मा के रूप में देखता है, वैसे ही सर्व भूतों के आत्मा रूप में देखता है। इस पर कहा अनेनैव स्वरूपेण। २. निर्विशेषमिति- साक्षित्व आदिसे एकरूप। ३.यस्त्वनु-पश्यति - दूबारा यत् शब्द का ग्रहण अन्वय दिखाने के लिए। ४.स इति -

कहे गये यत् शब्द को तत् शब्द की अपेक्षा रहति है इसीलिए 'स' कहा। अनुपश्यति अर्थात् आचार्य मुख से ईशावास्य आदि उपदेश श्रवण के अनु-बादमें जो देखता है अर्थात् जानता है। ५. ....**अग्नि हिमस्य भेषजम्**। यह शास्त्र में कहा गया। यह विधि नहीं है। लोक में प्राप्त है कि ठण्ड लगने पर अग्नि से उसका शमन होता है। उस प्राप्त का यह अनुवाद मात्र है। वैसे यहाँ कर्मकाण्ड की वासना से विधि का गंध भी आघ्राण नहीं करना चाहिए। ६..... ..किसी अदूषित में घृणा नहीं होती। दूषित में भी अभिन्न में घृणा नहीं होती। जैसे अपने मलमूत्र से किसी को घृणा नहीं होती। जहाँ भी घृणा होती है वह आत्मा से भिन्न में होती है यह भाव है। दूषित होने से तथा भिन्नता होने से घृणा होती है। आत्मा शुद्ध है और एक है अर्थात् दूसरा कोई नहीं है। ७. एक के अभाव से घृणा का अभाव है तो दोनों के अभाव से घृणा का सुतरां अभाव है। ८. निरन्तर अर्थात् अनविच्छिन्न। ९. घृणा का अभाव अर्थापत्ति से प्राप्त है।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।। ७।।

जिस समय या जिस ज्ञानी पुरुष में समस्त प्राणि आत्मरूप हो गये हैं, उस समय या उस एकत्व देखने वाले व्यक्ति में मोह और शोक कहाँ हो सकते हैं। अर्थात् उसमें मोह और शोक का अभाव होता है।। ७।।

[१]इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आह- यस्मिन्सर्वाणि भूतानि। [२]यस्मिन्काले [३]यथोक्तात्मनि वा [४]तान्येव भूतानि सर्वाणि [५]परमार्थात्मदर्शनादात्मैवा-दात्मैव संवृत्तः [६]परमार्थवस्तु विजानतस्तत्र तस्मिन्काले तत्राऽऽत्मनि वा को मोहः कः शोकः। *कहे गये अर्थ को अन्य मंत्र कहता है- यस्मिन्सर्वाणि भूतानि इत्यादि से। जिस समय या जिस यथोक्त आत्मामें परमार्थ वस्तु (आत्मा) को जानने वाले के लिए, परमार्थ आत्म-दर्शन से वे अव्यक्त आदि सारे प्राणि आत्मा ही (अपना*

स्वरूप ही) हो गये, उस समय या उस आत्मा में (एकत्व को जानने वाले के लिए) मोह और शोक कैसे हो सकता है।

१.यहाँ पर भी आलस्य के अभाव का अनुसंधान करना चाहिए। मंत्रद्रष्टा के धर्म मंत्र में औपचारिक प्रयोग हुआ है ऐसा नहीं समझना चाहिए। वस्तुतः दुर्बोध्य वस्तु का बार बार कथन भूषण है यह रहस्य है। २.अति गहन तत्त्व का तुरन्त बुद्धि में आरूढ होना कठिन है इस अभिप्राय से कहा है यस्मिन्काले। ३. अथवा जिसमें अधिकारी की दुर्लभता होती है इस विवक्षा से कहा – यथोक्त आत्मनि वा। ४.तानि अर्थात् अव्यक्त आदि भूत। ५.सर्वात्मभाव की प्राप्ति में ज्ञान से अतिरिक्त किसी अन्य साधन का अभाव को सूचित करते हैं – परमार्थ आदि से। ६.जीव को आत्मा तो सभी जानते हैं इसलिए कहा परमार्थ इति।

टीका – (अविद्या से विपरीत भावना मोह पद का अर्थ है, इस आशय से कहते हैं निरतिशय आदि) आत्मा निरतिशय आनन्दस्वरूप है इसलिए ही दुःख से उसका स्पर्श नहीं है, उस आत्मतत्त्व को [२]न जानने वाले को (अर्थात् दुःखि आदि विपरीत भावना के कारण। अथवा अविद्या हि मोह शब्द का अर्थ हैं) शोक होता है कि हाय मैं मारा गया, मेरे पुत्र नहीं है और जमीन भी नहीं है इस प्रकार। उससे (कहे गये शोक के कारण) पुत्र आदि की कामना करता है। उसके लिए (पुत्र आदि के लिए) देवता की आराधना करना चाहता है। किन्तु आत्मा के एकत्व को देखने वाले को शोक नहीं होता। इसलिए अन्वय व्यतिरेक से शोक आदि अविद्या के कार्य है यह निश्चय हो जाने से मूल अविद्या की निवृत्ति से (निवृत्ति निमित्त से) शोक आदि की पूर्ण रूप से निवृत्ति (अपने प्रतियोगी प्राक् अभाव के समान कालीन होना यह अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् पूर्ण रूपसे निवृति), विद्या (ज्ञान) का फल रूप से विवक्षित है। केवल लय तो सुषुप्ति में भी होता है। इस पर कहते हैं – **शोकश्च मोहश्च [१]कामकर्मबीज[२]मजानतो भवति न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः। को [३]मोहः कः शोकः इति शोकमोहयो–**

[४]रविद्याकार्ययोराक्षेपेणासंभवप्रदर्शनात् [५]सकारणस्य संसारस्या[६]त्यन्त-मेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति।। ७।। *कामना और कर्म के बीज अर्थात् कारण, अविद्या है, अज्ञानी को शोक और मोह होता है। किन्तु विशुद्ध, आकाश के समान आत्मा के एकत्व को जानने वाले को शोक और मोह नहीं होता है। अविद्या के कार्य शोक और मोह पर आक्षेप से असंभव प्रदर्शन द्वारा कारण सहित संसार का अत्यन्त उच्छेद ही प्रदर्शीत हुआ है।। ७।।*

१.अशेष संसार निवृत्ति के हेतु अविद्या की निवृत्ति से शोकमोह की निवृत्ति होती है इसे समझाने के लिए कहते हैं - कामकर्मबीज आदि। २. अजानतः - मोह अर्थात् विपरीत भावना, इस पक्ष में अजानतः का अर्थ अज्ञानतः। मोह अर्थात् अविद्या इस पक्ष में अजानतः का अर्थ ज्ञान का अभाव। तब भवति का अर्थ अवतिष्ठते यह होगा। अन्यत् का अर्थ उत्पद्यते यह होगा। ३. विवक्षित विद्या के फल को प्रकाशित करते हैं - को मोह इस प्रकार। ४. अविद्याकार्ययोरिति - मोह का अर्थ अविद्या (ज्ञान का अभाव) इस पक्ष में वह भी आविद्यक होने से कार्य है। ५. असंभवप्रदर्शनात्सकारणस्येति शोक मोह आदि का असंभव होना। अविद्या निवृत्ति विना असंभव होने से अविद्या नामवाला कारण सहित संसार की निवृत्ति अर्थ है। ६. अत्यन्तमेवेति - कारण सहित संसार की अत्यन्त निवृत्ति कहा। कारण अविद्या तु अनादि है। उसकी अत्यन्त निवृत्ति कैसे ? ज्ञान से अज्ञान के नाश होने पर उसकी पुनः न होना इसे ग्रहण करके अत्यन्त निवृत्ति कहा। (अत्यन्त निवृत्ति का अर्थ न्याय में अत्यन्ताभाव है। इसे त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकान्तताभाव कहा है। यथा भूतले घटो नास्ति। तीनों काल में घट का भूतल के साथ संसर्ग का अभाव को अत्यन्त अभाव कहा है। उत्पन्न होने वाले वस्तु का अभाव हो सकता है। जो अनादि है उसका अत्यन्त अभाव कैसे होगा। एक बार ज्ञान होने के बाद उस व्यक्ति में पुनः अज्ञान नहीं हो सकती इस आशय से कहा अत्यन्त निवृत्ति।)

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।। ८।।

वह आत्मा आकाश के समान व्यापक है। शुक्र अर्थात् ज्योतिस्वरूप है। वह अकाय अर्थात् सूक्ष्म शरीर रहित है। व्रण और शिरा रहित है अर्थात् स्थूल शरीर रहित है। शुद्ध अर्थात् कारण शरीर रहित है। आगन्तुक पापों से विद्ध नहीं है। वह कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी है। मनीषी अर्थात् सर्वज्ञ है। वह सब के ऊपर है। वह स्वयं होता है। अर्थात् उसका कोई कारण नहीं है। वह नित्य संवत्सर नाम वाले प्रजापतियों को योग्यता के अनुरूप कर्तव्य कर्मो का विभाग करता है।। ८।।

[1]योऽयमतीतैर्मन्त्रैरुक्त आत्मा स [2]स्वेन रूपेण किंलक्षण इत्याहायं मन्त्रः – स पर्यगात्स यथोक्त आत्मा पर्यगात्परि समन्तादगाद् गतवाना[3]काशवद्व्यापीत्यर्थः। [4]शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मद्दीप्तिमानित्यर्थः। अकायमशरीरो [5]लिंगशरीरवर्जित इत्यर्थः। *जो यह आत्मा अतीत मंत्रों में कहा गया है वह अपने स्वरूप से कैसे लक्षणवाला है अर्थात् उस आत्मा का लक्षण क्या है इस पर मंत्र कहता है – पर्यगात् इत्यादि से। वह यथोक्त आत्मा परि अर्थात् चारों ओर से अगात् अर्थात् फैला हुआ है। आकाश के समान व्यापक है। शुक्र अर्थात् शुद्ध है। ज्योति स्वरूप दीप्ति-प्रकाश वाला यह अर्थ है। अकाय अर्थात् शरीर रहित है। सूक्ष्म शरीर वर्जित यह अर्थ है।* १.बृद्धाः अर्थात् ज्ञानी जन उपनिषद् शैली का कथन करते हैं कि अध्यारोप और अपवादों से निष्प्रपंच वस्तु का प्रपंचन-कथन होता है। वैसे ही यहाँ ईशा इत्यादि मंत्र में सर्वेश्वर रूप से आत्मा कहा गया। कुर्वन इस द्वितीय मंत्र से कर्म के अधिकारी रूप से (आत्मा कहा गया)। असूर्या इस तृतीय मंत्र से असूर्य लोक के प्रापक ज्ञान के विषय रूप से कहा गया। अनेजत् आादि दो मन्त्रों से अनेजत्, एक कह कर दूसरे सब अध्यारोप से कहा गया। यस्तु इत्यादि मंत्रों से भी आरोप सापेक्ष (आरोप की अपेक्षा से) वह कहा गया। अब

अपवाद प्रक्रिया द्वारा सपर्यगा इत्यादि आधे मंत्र से उसे कहना है, कवि इति आधे मंत्र से फिर आरोप के द्वारा इस इच्छा से अवतरण उद्धरण करते हैं – योयमतीत इत्यादि से। २.स्वेन रूपेण किं लक्षणं – इसका अपना निरूपाधिक रूप कैसा है। ३. आकाशवत् – आकाश के सदृश व्यापक है इतना ही दृष्टान्त है। किन्तु आकाश में जैसे सापेक्ष व्यापकत्व है वह नहीं है। ४.शुक्र शब्द यद्यपि निघन्टु में जल, स्वर्ण आदि के नाम में पढ़ा गया है फिर भी यौगिक अर्थ को ले कर कहा गया है ज्योतिष्मद् आदि। शुच दीप्तौ धातु से शुक्र शब्द की निष्पत्ति हुई है। ५. अकाय इससे स्थूल शरीर का निषेध हो जाने पर अव्रण अस्नाविर आदि नहीं कहना चाहिए इस पर व्याख्या करते हैं – लिंगशरीर-वर्जित।

अव्रणमक्षतम्। [1]अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरम्। अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां [2]स्थूलशरीरप्रतिषेधः। शुद्धं निर्मल[3]मविद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रतिषेधः। अपापविद्धं [4]धर्माधर्मादिपापवर्जितम्। [5]शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुंलिंगत्वेन [6]परिणेयानि स[7] पर्यगादित्युपक्रम्य कविर्मनीषीत्यादिना पुंलिंगत्वेनो[8]पसंहारात्। *अव्रण अर्थात् (चोट आदि से होनेवाला) क्षतों से रहित है। अस्नाविरं अर्थात् स्नावा शिरा (नस) जिसमें नहीं है, नसों से रहित है। अव्रण और अस्नाविर इन दो पदों से स्थूल शरीर का प्रतिषेध है। शुद्ध अर्थात् निर्मल, अविद्या रूप मल से रहित है यह अर्थ है। इससे कारण शरीर का प्रतिषेध है। अपापविद्ध अर्थात् धर्म-अधर्म आदि पापों से रहित है। शुक्र आदि नंपुसक लिंग के वचन पुंलिग में परिणत कर समझना चाहिए। क्योंकि स पर्यगात् आदि पुंलिंग शब्द से आरंभ करके कविः मनीषी आदि पुंलिंग आदि शब्दों से उपसंहार होने से बीच के शब्दों को पुंलिंग में परिणत कर समझना चाहिए।*

१. अस्नाविर - स्नावा शब्द से मत्वर्थीय इलच् प्रत्यय करके र और ल में अभेद होने से अस्नाविर रूप सिद्ध होता है। २. इन दोनों विशेषणों से स्थूलशरीर का प्रतिषेध होता है। केवल अव्रण कहने से हो सकता था। परंतु व्रण रहित शरीर भी हो सकते हैं इसलिए कहा अस्नाविरं। केवल अस्नाविर कहने से जुएं आदि शरीर में शिरा नहीं होते हैं इसलिए उभय शब्दों का प्रयोग है। ३.उभय प्रकार देह शून्य होने से अन्य मल की प्राप्ति नहीं है इस पर कहते हैं - अविद्या इत्यादि। ४. धर्माधर्मादि पाप - धर्म भी जन्म आदि अनर्थ के हेतु होने से पाप है। ५.कुच्छ लोग शुक्रं ब्रह्म पर्यगात् इस प्रकार शुक्रं का अर्थ ब्रह्म करके अकाय से लेकर अपापविद्ध तक नपुंसक शब्दों को शुक्रं का विषेषण कहते हैं। यह ठीक नहीं। क्योंकि शुक्र प्राप्ति द्वारा शुक्रत्वादि की विवक्षा की अपेक्षा से साक्षात् शुक्रत्वादि कहने में लाघव है। ६.परिणेयानि - छन्द में लिंग का व्यत्यय-परिवर्तन होता है इसे पाणिनी सूत्र में कहा है - 'व्यत्ययो बहुलम्' इस प्रकार। ७.उसमें हेतु कहते हैं - स इति। जैसे प्रयाज के अंगों के बीच विहित अभिक्रमण को संदशपतित न्याय से प्रयाज का अंग मानते हैं वैसे पुंलिंगों के बीच पढ़े गये शब्दों को पुंलिंग करके समझना चाहिए। ८. उपसंहार - उपक्रम उपसंहार में कहे गये सजातीय ही मध्यवर्ती को होना चाहिए यह भाव है।

टीका - स्नु प्रक्षरणे धातु से शरीर का क्षरण करने से स्नावा का अर्थ शिरा है। स्नावा शब्द नाडी (नस) में प्रसिद्ध नहीं है इसलिए स्नु प्रक्षरणे धातु से इस शब्द की निष्पत्ति समझना चाहिए। स्नु धातु से ण्यन्त प्रत्यय करने से, गति,बृद्धि आदि द्विकर्मक होने से प्रयोज्य शरीर में कर्म गौण है मुख्य तो रक्त आदि धातु है। शरीर शिरा आदि से रक्त आदि धातुओं का क्षरण करता है यह प्रसिद्ध है। द्वार तथा हेतु होने से शिराओं का प्रयोजकत्व है, यह भाव है। क्रान्त अर्थात् अतिक्रान्त अर्थात् नष्ट उपलक्षण से भूत, भविष्यत, तथा वर्तमान को देखनेवाला क्रान्तदर्शी का अर्थ है। (उपलक्षण- गौण लक्षण, जैसे कौओं से खेती की रक्षा करनी चाहिए कौओं का उपलक्षण सारे पक्षिओं से रक्षा करनी चाहिए।)

[१]कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक्। [२]नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्यादिश्रुतेः। मनीषी मनस [३]ईषिता [४]सर्वज्ञ [५]ईश्वर इत्यर्थः। परिभूः सर्वेषां [६]पर्युपरि

भवतीति परिभूः। स्वयंभूः स्वयमेव भवतीति [7]येषामुपरि भवति [8]यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयंभूः। [9]स [10]नित्य-मुक्त [11]ईश्वरो याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वाद्यथातथा भावो याथातथ्यं –*कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी अर्थात् सर्वज्ञ है। 'इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है' इस श्रुति प्रमाण से यह सिद्ध होता है। मनीषी मन का शासक सर्वज्ञ ईश्वर यह अर्थ है। परिभू सब के परि अर्थात् ऊपर होता है इससे परिभू है। स्वयंभू स्वयं ही होता है। जिन प्रजापति आदियों के ऊपर होता है, जो हिरण्यगर्भ ऊपर होता है वह सर्व स्वयं ही होता है इसलिए स्वयंभू है।*

१. कवि क्रान्तदर्शी होता है। निरुक्त में कवतेर्वा इस के भाष्य में क्रामतेः कवतेर्वा गतिकर्मणः यह रूप है। २.प्रश्न – आत्मा यदि सर्वद्रष्टा है तो प्रति शरीर उसका अनुभव होना चाहिए किन्तु नहीं होता है। इसलिए अप्रमाणिक है इस पर श्रुति का प्रमाण देते हैं – नान्यतो इत्यादि। सर्व उपहित का सर्वद्रष्टृत्व देह आदि अवच्छेद से संभव नहीं है। राज्य उपहित राजा का स्वप्न में अन्यथा भाव देखा गया है। ३.ईषिता – ईष् धातु गति हिंसा और दर्शन अर्थ में प्रयुक्त होता है। उसका यह रूप है। ४.ईष् धातु का दर्शन अर्थ को लेकर सर्वज्ञ कहा है। समस्त ज्ञान का साधन मन है। उसका भी द्रष्टा होने से आत्मा सर्वज्ञ कहा गया है। ५.गति हिंसा इस लेकर कहते हैं ईश्वर। जो मनका गमयिता है अर्थात् चालक है और हिंसक अर्थात् निरोधक है वह आत्मा ईश्वर है। ६. निपातों का अनेक अर्थ होने से परि का अर्थ उपरि करते हैं। ७.वह ईश्वर कैसा है इस पर कहते हैं – येषां इत्यादि। प्रजापति आदि यत् शब्द का अर्थ है। ८. यश्च का अर्थ हिरण्यगर्भ आदि। ९. कवि आदि कहे गये ऐश्वर्य को सफल करने के लिए कहते हैं– स नित्यमुक्त इत्यादि। १०.नित्यमुक्त– अकाय इत्यादि कहे गये बन्धन का अभाव। ११. ईश्वर– कवित्व आदि विशेषण वाला।

तस्माद्य[1]थाभूतकर्मफलसाधनतोऽर्थान्[2]कर्तव्यपदार्थान्व्यदधाद्विहितवान्यथा-नुरूपं [3]व्यभजदित्यर्थः। शाश्वतीभ्यो [4]नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सरा-ख्येभ्यः [5]प्रजापतिभ्य इत्यर्थः।। ८।। *यथा तथा भाव को याथातथ्य कहते हैं (जिसे जैसे होना चाहिए उसे वैसे) (तस्मात्) पंचमी विभक्ति में*

याथातथ्यतः यह रूप बनता है। वह नित्य मुक्त ईश्वर सर्वज्ञ होने से प्राणियोंके यथाभूत (जैसे किये गये) कर्म-फलों के साधनों से अर्थों को अर्थात् कर्तव्य पदार्थों को (व्यदधात्) विधान करता है। यथानुरूप विभाग करता है। किसको विधान करता है ? शाश्वती अर्थात् नित्य समा अर्थात् संवत्सर नाम वाले प्रजापतियोंको।। ८।।

१.यथाभूत - जिसने जिस फल के लिये जैसा कर्म या उपासना की है, उसके वैसा फल-भोग के लिए उसी प्रकार कर्म आदि साधन को लेकर। २. कर्तव्य पदार्थ - पवन आदि रूप। भीषास्माद्वातः पवते आदि श्रुति प्रमाण है। ३. व्यभजत् - व्यभजत् क्रिया से समाभ्य यहाँ तादर्थ्य में चतुर्थी विभक्ति समझा जाता है। ४. नित्याभ्यः - नित्यत्व यहाँ आभूतसंप्लवस्थायित्व अर्थात् प्रलय पर्यन्त स्थायित्व समझना चाहिए। अतोन्यदार्त्तमिति श्रुति प्रमाण है। अर्थात् आत्मा से भिन्न सब कुछ नाशवान् है। ५. संवत्सरो वै प्रजापति इस श्रुति से कहते हैं संवत्सर नाम वाले प्रजापतियों को।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ्रताः।। ६।।

जो अविद्या अर्थात् कर्म करते हैं, वे अज्ञान अन्धकार में प्रवेश करते हैं। जो विद्या अर्थात् उपासना में रत हैं, वे उससे भी अधिक अज्ञान अन्धकार में प्रवेश करते है।। ६।।

(द्वितीय मंत्र भाष्य में अन्त में कहे गये 'विभागं च अनयोर्दर्शयिष्यामः' इस अवसर को प्राप्त करके कहते हैं - प्रकरण विभाग इत्यादि। ईशावास्य इत्यादि सपर्यगा इति अष्टम पर्यन्त मंत्र कहे गये ज्ञाननिष्ठ अधिकारी को कहना चाहिए। अब अन्धं तम आदि उपासना का प्रकरण कुर्वन् इस मंत्र में कर्मनिष्ठा अधिकारी को कहना चाहिए, इस प्रकार प्रकरण का विभाग समझना चाहिए।) टीका - प्रकरण के विभाग दिखाने की इच्छा से (वृत्तिकार आदि अभिमत समुच्च्य के खंडन की इच्छासे)पीछे कहे हुए अर्थ का अनुवाद करते हैं - **अत्राऽऽद्येन मन्त्रेण सर्वेषणापरित्यागेन ज्ञान-**

निष्ठा [1]प्रथमो वेदार्थः ईशावास्यमिदं सर्वं मा गृधः कस्य स्विद्धन-मित्य[2]ज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठाऽसंभवे कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेदिति कर्मनिष्ठोक्ता [3]द्वितीयो वेदार्थः। *यहाँ 'ईशा वास्यमिदं सर्वं मा गृधः कस्यस्विद्धनं' इस प्रथम मन्त्र से समस्त एषणाओं के त्याग द्वारा ज्ञाननिष्ठा पहला वेदार्थ है। जीने की इच्छावाले अज्ञानिओं के लिए ज्ञाननिष्ठा असंभव होने से 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' इस प्रकार कर्मनिष्ठा कही गयी, यह द्वितीय वेदार्थ है।*

१.प्रथम इति - फल रूप से मुख्य तात्पर्य विषय वाला होने से मुख्य है, यह अर्थ है। पहला मंत्र होने से प्रथम है इस अर्थ का भी त्याग नहीं करना चाहिए। २. इति- इस प्रकार आद्य मंत्र द्वारा। ३. द्वितीय - साधन रूप से अवान्तर तात्पर्य विषय वाला होने से अमुख्य अर्थात् गौण है। शेषं पूर्ववत् -दूसरा मंत्र होने से भी द्वितीय कह सकते हैं। (अब भेदाभेद वादी भाष्कराचार्य के कहे गये मत का तिरस्कार करते हैं) टीका - भाष्कराचार्य ने जो कहा था कि समस्त उपनिषत् ब्रह्मविद्या का एक ही प्रकरण है (इससे ज्ञान कर्म समुच्चय अभिमत होने पर भी, उपासना प्राध्यान्य से मुक्ति मिलेगी), इससे प्रकरण में भेद करना उचित नहीं है। यह कहना ठीक नहीं है। (यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद आदि मंत्रो से) प्राण आदि उपासनाओं का विधान भी उपनिषदों में देखा गया है। वे भी ब्रह्म-ज्ञान के अंग है (अंग और अंगी के एक फल होने से वहाँ प्रकरण का विभाग की आवश्यकता नहीं है।) ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि दोनों के अलग अलग फल का श्रवण है। (श्रूयते हि ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति इस प्रकार पृथक् फल है। इससे उनमें अंग अंगी भाव होते हुए भी प्रकरण का भेद है।) उनको (भाष्कर को) भी (आगे कहे जाने वाले अधं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिं इत्यादि मंत्रों में) व्याकृत अव्याकृत उपासन के प्रकारान्तर होने से(ज्ञान की अपेक्षा उपासना का विलक्षण स्वरूप होने से अर्थात् शुक्र आदि विशेषण वाला वेद्य ब्रह्म के स्वरूप की अपेक्षा से वहाँ उपास्य स्वरूप भिन्न होने से), प्रकरण भेद से (ज्ञानकर्मसमुच्चय प्रकरण

से भिन्न प्रकरण) व्याकृत और अव्याकृत के समुच्च्य विधान इष्ट(स्वीकार्य) है। (इष्टत्वात् - इष्टिकर्तव्यत्वात् स्वीकार्य होना चाहिए) इसलिए जैसे कर्मकाण्ड में उन उन कर्मों के भिन्न अधिकारी होने से अग्निहोत्र आदि प्रकरण भिन्न ही स्वीकार किया है वैसे उपनिषदों में भी भिन्न अधिकार से कर्म से विरुद्ध विद्या (ज्ञान) प्रकरण का भेद का विरोध नहीं है (अर्थात् प्रकरण भेद उचित है)। मंत्र के अर्थ में ब्राह्मण सम्मति दिखाने के लिए (क्योंकि ब्राह्मण, मंत्रों की व्याख्या होने से मंत्रों के अर्थ के निर्णय में प्रबल प्रमाण है) उपक्रम देते हैं - **अनयोश्च निष्ठयो[1]र्विभागो मन्त्रप्रदर्शितयोर्बृहदारण्यकेऽपि प्रदर्शितः [2]सोऽकामयत जाया मे स्यादित्यादिना।** *मन्त्र में प्रदर्शित इन दोनों निष्ठायों का विभाग बृहदारण्यक में भी 'उसने कामना की मुझे पत्नी चाहिए' इत्यादि से प्रदर्शित हुआ है।*

१.विभाग -भिन्न अधिकारित्व। २. वह अर्थात् अज्ञ आत्मा।

टीका - वहाँ वाक्य में कैसे अज्ञानीत्व जाना जाता है ? (सोऽकामयत से कामित्व प्राप्त है पर अज्ञानित्व कैसे प्राप्त है) ऐसी आशंका होने पर कहते हैं मन आदि -[1]**अज्ञस्य कामिनः कर्माणीति मन एवास्या[2]ऽऽत्मा [3]वाग्जाये[4]त्यादिवचनात्। अज्ञत्वं कामित्वं च कर्मनि-ष्ठस्य निश्चितमवगम्यते।** *मन ही इसकी आत्मा है, वाणी जाया है इस वचन से अज्ञानी जो कामी है उसके लिए कर्म हैं। कर्मनिष्ठ का अज्ञत्व और कामित्व निश्चित रूपसे जाना जाता है।*

१.अज्ञानी जो कामी है उस से कर्म का संबन्ध है। अज्ञानी कामनावाले को कर्मनिष्ठा में अधिकार है। २. आत्मा - अपना शरीर। ३. मन एव अस्यात्माा, वाग्जाया, प्राणः प्रजा, चक्षुर्मानुषं वित्तं, चक्षुषा हि तद्विन्दते, श्रोत्रं दैवं, श्रोत्रेण हि तच्छृणोति, आत्मैवास्य कर्म आत्मना हि कर्म करोति इत्यादि। यहाँ आत्मा का अर्थ शरीर है। ४. कामी अज्ञ होता है, जैसे दूध चाहने वाले बालक को माँ सतु से पानी मिला कर प्रलोभित करती है, वैसे अज्ञानी ही अनथाभूत (मिथ्या) पदार्थ से प्रलोभित होता है।

टीका – मुझे जाया हो जिससे प्रजा की उत्पत्ति करूँ, धन हो जिससे कर्म करूँ इस प्रकार कामनावाले को सर्वथा बाहर के (बाह्य साधन आदि से) जाया आदि का लाभ जब नहीं होता है, तब आध्यात्म जाया आदि की संपत्ति (प्राप्ति), (बाह्य जाया आदि के अभाव में अपने को अपूर्ण माननेवाले का पूर्णता संपादन करनेवाला संपद् उपासना) (मंत्र) दिखा रहा है, यह (अतथा में तथात्व का अनुभव) अज्ञानी का चिन्ह है। मन आदि में आत्म आदि का अभिमान यह अज्ञान का कार्य है। (शंका – शालग्राम शिला में विष्णुत्व की बुद्धि के समान यहाँ पर भी शास्त्र में विधान होने से यह अज्ञानी का कार्य कैसे समझा जाय? उत्तर – शास्त्र अज्ञानी को उद्देश्य करके विधान करता है। इसलिए यह अज्ञानी का चिन्ह है। ज्ञानी के लिए तो शास्त्र में कहा है **किमिच्छन्कस्य कामाय** आदि से कामना का अभाव कहा है।) जैसे बाह्य स्त्री की प्राप्ति न होने पर सोया हुआ मन से कल्पित स्त्री को उपभोग करता अज्ञानी प्रसिद्ध है (अज्ञत्व अर्थात् वास्तविक कामिनी के अभाव में कामना से प्रयुक्त कामिनी बुद्धि) वैसे ही यह अज्ञानी है ऐसा समझना चाहिए। (प्राप्ति न होने पर – यह सोये हुए की लिप्सा से ध्वनित होता है। सोया हुआ उसका ध्यान करता हुआ। मनसे कल्पित – अर्थात् मन के परिणाम रूप वासनामयी। प्रसिद्ध है – भोग के समय प्रलाप आदि से प्रसिद्ध है। वैसे यह भी – सोऽकामयत में कहे गये कामी भी वैसे अज्ञानी है।)

टीका – (शंका – कर्म अज्ञानी द्वारा किया जाने पर भी मुक्ति फल के लिए उनका ज्ञान के साथ समुच्चय वारण नहीं कर सकते हो? नहीं, समान फल हो तो समुच्चय हो सकता है, किन्तु कर्मोका फल संसार है इस पर कहते हैं) उन (अज्ञानिओं से किये गये) कर्मों का फल संसार का लाभ है यह वहीं पर(बृहदारण्यक में) दिखाया है इस पर कहते हैं – [१]**तथा च तत्फलं सप्तानसर्गस्तेष्वात्मभावेनाऽऽत्मस्वरूपावस्थानम्।** [२]**जायाद्येषणात्रयसंन्यासेन चाऽऽत्मविदां** [३]**कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येना**[४]**ऽऽत्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता किं** [५]**प्रजया करिष्यामो येषां नो**[६]**ऽयमात्माऽयं लोक**

इत्यादिना। *वैसे ही उन कर्मों का फल सप्तानसर्ग है। उनमें आत्म भावना से आत्मस्वरूप का अवस्थान है। जाया आदि तीनों एषणाओं का त्याग के द्वारा आत्मज्ञानी के लिए कर्मनिष्ठा से प्रतिकूल 'प्रजा से हम क्या करेंगे हमारे लिए यह आत्मा यह लोक है' इत्यादि से आत्मस्वरूप-निष्ठा कही गयी है।*

१.अज्ञ और कामनावाले से कर्म होने से। २. कर्मनिष्ठा में ब्राह्मण ग्रन्थ का कथन के बाद ज्ञाननिष्ठा में ब्राह्मण ग्रन्थ का कथन करते है - जाया इत्यादि से। ...३. कर्मनिष्ठा के प्रतिकूल अर्थात् कर्मनिष्ठा से विपरीत। ४. आत्मामें ही स्वरूप से अवस्थान, कर्मनिष्ठावालों के जैसे सप्तान्न में निष्ठा न होना यह भाव है। ५. प्रजा पद यहां वित्त, लोक आदि का उपलक्षण है। 'येषां नो अयमात्मा' इत्यादि लिंग (हेतु) से यह स्पष्ट है। इससे तीनों एषणा का त्याग यहाँ विवक्षित है। ६. अयमात्मा अयं लोकः - नित्य संनिहित अशनाया आदि (भूख प्यास आदि) अतीत यह आत्मा, अयं लोकः - यह पुरुषार्थ। यह अर्थ है।

टीका - सप्तान्नसर्ग - (श्रुति में कहे गये सप्तान्नसर्ग की व्याख्या करते हैं) एक साधारण अन्न जो खाया जाता है, दो देवताओं का हूत और प्रहूत (हूत-अग्नि में हवन, प्रहूत-हवन के बाद बलिदान), अथवा दर्श और पूर्णमास नाम वाले यज्ञ, तीन इसके भोग के साधन मन, वाणी और प्राण, पशु के लिए एक दूध। श्रुति ने **'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता'** (जिन सात अन्नों को मेधा (विहित प्रतिषिद्ध उपासना यहाँ मेधा है) और तपस्या से पिता (यजमान) ने सृष्टि की) इत्यादि (वाक्य) से दिखाया है। (श्रुति में आये पिता शब्द की व्याख्या करते हैं) यहाँ (श्रुति में) एक एक (सभी कर्मठ) यजमान ही विहित प्रतिषिद्ध ज्ञान (उपासना) और कर्म के अनुष्ठान से समस्त संसार के साक्षात् या परंपरा से जनक (उत्पादक) होने से पिता कहा गया है। (जैसे पिता पुत्र के प्रति साक्षात् और पौत्र के प्रति परंपरा से कारण है वैसे। अथवा भोक्ता समुदाय के नियन्ता की अपेक्षा से भोग के अनुकूल कर्म द्वारा हिरण्य

गर्भ के प्रति साक्षात् उसके द्वारा अशेष संसार प्रति परंपरा से) उन उत्पन्न सप्तान्न में उसके पिता का, यह मैं हूँ, यह मेरा है, इस प्रकार के मन आदि में आत्मत्व अध्यास से दूसरे में संबन्ध अध्यास से अवस्थान ही संसार है, यह प्रसिद्ध है।

इस प्रकार मंत्र में प्रदर्शित दोनों निष्ठा में ब्राह्मण ग्रन्थ की सम्मति को दिखा कर (यहाँ के) प्रकरण विभाग को दिखाते हैं – **ये तु ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनस्तेभ्योऽसूर्या नाम त इत्यादिनाऽविद्वन्निन्दा-द्वारेणाऽऽत्मनो याथात्म्यं स पर्यगादित्येतदन्तैर्मन्त्रैरुपदिष्टम्। ते [१]ह्यत्राधिकृता न कामिन इति। [२]तथा च [३]श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि [४]अत्याश्रमिभ्यः परमं [५]पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघ[६]जुष्टमित्यादि [७]विभज्योक्तम्।** *जो ज्ञाननिष्ठ संन्यासी हैं उनके लिए 'असूर्या नाम त' इत्यादि से अज्ञानी की निन्दा द्वारा 'सपर्यगात्' पर्यन्त मंत्रों से आत्मा का याथात्म्य कहा गया। वे यहाँ अधिकारी हैं, कामनावाले नहीं हैं। इस बात को श्वेताश्वतर शाखा वाले मंत्र उपनिषद् में कहते हैं कि –*

१.संन्यासियों को ही उपदेश में हेतु कहते हैं – ते हीति। २.उसमें प्रमाण देते हैं – तथा च। ३. श्वेताश्वतराणाम् – श्वेताश्वतर शाखा वालों का। ४. अत्याश्रमिभ्य – तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वानित्यादिः। तपस्या के प्रभाव से और देवता के प्रसाद से श्वेताश्वतर ने ब्रह्म को जाना। ५. परमं पवित्रम् – आत्मा का याथात्म्य परम पवित्र है। अथवा आत्मा को विषय करने वाला ज्ञान परम पवित्र है। 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इस स्मृति से। ६.ऋषिसंघजुष्टम् – ऋषिगणसेवित। ७. अत्याश्रमिभ्य इससे ज्ञाननिष्ठा के अधिकारी संन्यासिओं से कर्मनिष्ठा के अधिकारी कामी अज्ञानी गृहस्थों को पृथक करके। अथवा अधिकारी के भेद के प्रदर्शन से निष्ठा का विभाग करके।

टीका – इस प्रकार मंत्र में प्रदर्शित दोनो निष्ठाओं में ब्राह्मण उपनिषदों की संमति को दिखाकर (यहाँ के) प्रकरण के

विभाग को दिखाते हैं –**ये [१]तु कर्मिणः [२]कर्मनिष्ठाः [३]कर्म कुर्वन्त एव जिजीविषवस्तेभ्य इदमुच्यते– [४]अन्धं तम इत्यादि। [५]कथं पुनरेवमवगम्यते न तु [६]सर्वेषामित्युच्यते– [७]अकामिनः [८]साध्यसाधनभेदोपमर्देन यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। [९]तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति यदात्मैकत्वविज्ञानं तन्न केनचित्कर्मणा [१०]ज्ञानान्तरेण वा ह्यमूढ़ समुच्चिचीषति। [११]इह तु समुच्चिचीषया–ऽविद्वदादिनिन्दा क्रियते।** *जो कर्मी हैं जिनकी कर्ममें निष्ठा है, कर्म करते हुए जीवित रहने के इच्छावाले हैं, उनके लिए अन्धं तम इत्यादि मंत्र का उपदेश है। यह कैसे जाना गया कि कर्मियों के लिए है, सभी के लिए नहीं है ? इस पर कहते हैं – अकामियों का साध्यसाधनभेद के उपमर्दन से (कुचल देने से) 'जब समस्त भूत आत्मा ही हो गया तब एकत्व देखने वाले के लिए मोह और शोक का अवसर कहाँ' इस मंत्र में कहे गये जब आत्मा का एकत्व ज्ञान हो गया तब वह ज्ञानी, ज्ञान के साथ कर्म या उपासना से किसीका समुच्चय की इच्छा नहीं करेगा। यहाँ तो समुच्चय की इच्छा से अविद्वान की (उपासना रहित कर्मी की) निन्दा की जाती है।*

१. येत्विति – उतने में ज्ञाननिष्ठा का प्रकरण समाप्त करके। २. 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' इस न्यायसे कर्मीपना साधारण है इसे कहते हैं – कर्म कुर्वन्त एव। कर्म में ही जिनकी श्रद्धा, बद्ध है यह अर्थ है। ३. उनकी श्रद्धा विशिष्ट क्रिया की अभिव्यक्ति से होती है इसे कहते हैं – कर्म कुर्वन्त एव इत्यादि। ४. अन्धं तम – उपासना उपसर्जन–अप्रधान कर्मनिष्ठा का प्रकरण। ५. कथं पुनः – कर्मनिष्ठा वालों के लिए ही यह प्रकरण प्रारंभ हो रहा है सबके लिए नहीं यह कैसे जाना जाता है। ६. न तु सर्वेषाम्– ज्ञान–निष्ठा को कटाक्ष करते हैं। उत्तर में अकामी कहा है। ७. **'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यथब्रह्म समश्नुते।। नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।'** इत्यादि श्रुति के अनुसार कामना रहित ज्ञानी को सर्वात्मता की प्राप्ति होती है इस आशय से श्रुति में विजानतः इस शब्द को अपेक्षित शब्द का पूरण करते

हैं - अकामिन इति। ८.कर्मसमुच्चय बुद्धिवाले की चिकित्सा करने की इच्छा से मंत्र के पूर्वार्ध से आत्मा के एकत्व को चटा रहे हैं - साध्यसाधन भेदोपमर्द- नेति। ९. उत्तरार्ध के मर्म को जानने वाला असमुच्चय को जान लेगा इस आशय से उसका भी अर्थ करते हैं - तत्रेत्यादि। १०. ज्ञान का कर्म के साथ समुच्चय भले ना हो ज्ञान-उपासना से तो हो सकता है, सजातीय होने से। अधं तम इत्यादि में विद्या अर्थात् आत्मा का ऐकत्व ज्ञान, अविद्या अर्थात् उपासना रूप ज्ञान विवक्षित है ऐसे विपरीत बुद्धि वाले के लिए अनुकम्पा करते हुए कहते हैं - ज्ञानान्तरेण इति। ११. ईशा इति आदि से प्रस्तुत असंग-आत्म-आकाश-निर्झरिणी विज्ञान मन्दाकिनी किसी से संगम न करता हुआ किसमें लीन होगी ? ब्रहमसागर में। अब अन्धं तम इत्यादि से पूर्व कुछ भेद देखते हैं। वह कौन सा तीर्थ होगा ऐसे भ्रष्टों के लिए अवकाश करते हैं - इह तु इत्यादि से।

अत्याश्रमिभ्य का अर्थ उत्तम आश्रमियों (संन्यासियों) के लिए। (साध्यसाधन इत्यादि भाष्य के अन्वय द्वारा व्याख्या करते है) साध्यसाधन भेद उपमर्दन से (साध्य मुक्ति फल है, ज्ञान-कर्म समुच्च्य उसका साधन है। इत्यादि भेद को अवगाहन करनेवाली बुद्धि के बाधक से) (कहे गये भेद उपमर्दन करनेवाला आत्मा का ऐक्य ज्ञान किसे प्राप्त है उसे कहते हैं) जो आत्मा के एकत्वविज्ञान 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत्' इस अवधारणा पूर्वार्ध से कहा गया है, उत्तरार्ध से संसार निवृत्ति फल कहा गया है वैसा ज्ञान भी फल की उत्पत्ति में सहकारी की अपेक्षा रखेगा, यह मनोरथ मात्र है, इस आशय से कहते हैं। पूर्वार्ध में कहे गये अकेला ज्ञान ही संसार निवृत्ति फल देगा उसे ही उत्तरार्ध में कहा है। उसे कोई अमूढ़ (ज्ञानी) श्रौत या स्मार्त कर्मों से समुच्चय करना नहीं चाहेगा। भाष्य में केनचित् की व्याख्या करते हैं श्रौत या स्मार्त से। अमूढ यह यस्मिन् इत्यादि मंत्रों के मार्मिक अर्थ है। समुच्चय के इच्छा वाले मूर्ख अर्थ का अतिक्रमण नहीं करते अर्थात् मूर्ख होते हैं। भाष्य का इह तु इत्यादि का अर्थ करते हैं अन्धं तम इत्यादि में समुच्चय की इच्छा से समुच्चय का विधान करने के लिए। वह यस्तद्वेदोभयं सह इससे होता है अविद्वान आदि की निन्दा

देखा जाता है। कर्मी होता हुआ अनुपासक अविद्वान् शब्दार्थ। उपासक होता हुआ अकर्मी आदि शब्द का अर्थ है। भाष्य में क्रियते पद की व्याख्या करते हैं - देखा जाता है।

उससे क्या इस पर कहते हैं- **तत्र च यस्य येन समुच्चयः संभवति न्यायतः शास्त्रतो वा तदिहोच्यते।** *वहां जिसका जिसके साथ न्याय पूर्वक और शास्त्र द्वारा समुच्चय हो सकता है उसे यहां कहते हैं।* १. तत्र च - अविद्वान आदि की निन्दा समुच्चय विधान के लिए होने से।

टीका - किस ज्ञान का (आत्मा-एकत्व विज्ञान और उपासना इन दोनों में कौन) कर्म के साथ समुच्चय हो सकता है इस पर कहते हैं - **यद्दैवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं तत्कर्मसंबन्धित्वेनो[१]पन्यस्तं न पर-मात्मज्ञानम्।** *जो दैव वित्त अर्थात् देवता विषयक ज्ञान है उसका कर्म के साथ संबन्धी रूप से उपन्यास किया गया है। परमात्मा का ज्ञान नहीं।* १. कर्मसंबन्धित्वेन - कर्म के साथ समुच्चय हो सकता है, इस रूप से। देवता विषयक ज्ञान 'य उ विद्यायां रता इत्यादि मंत्रों में विद्या शब्द से विवक्षित। शंका - कर्मकाण्ड में 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' इत्यादि में तेल की योग्यता होने पर भी प्रसंग प्राप्त न होने से उसका ग्रहण नहीं होता है किन्तु प्रसंग प्राप्त अर्थवाद वाक्य में 'तेजो वै घृतं' इससे घी का ग्रहण होता है, अर्थात् घी से मिलाया हुआ चीनी ग्रहण होता है, वैसे कर्मसंबन्ध योग्यता होने पर भी इस उपनिषद में प्रसंग न होने से उसका उपादान नहीं कर सकते हैं? उत्तर - यद्यपि यहां प्रसंग नहीं है किन्तु अन्य उपनिषदों में प्रसंग होने पर और सभी उपनिषद् एक ही ज्ञानकांड होने से संभव है।

टीका - (भाष्यमें जो न्यायतः शास्त्रतो वा है उसका अर्थ करने के लिए शाकल्य के समान भाष्कराचार्य अंगार भक्षण कर रहे हैं) भाष्कराचार्य जी ने जो कहा है कि ईशा वास्य इस मंत्र में ब्रह्मविद्या का प्रसंग होने से उसी की समुच्चय की इच्छा से यहां निन्दा की जाती है। वह ठीक नहीं। प्रसंग मात्र से संबन्ध नहीं होता किन्तु संबन्ध के

लिए योग्यता चाहिए। (नहीं तो ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यं इस सूत्र के प्रसंग से अदसोमात् सूत्र में एकार का संबन्ध होगा) शुद्धब्रह्म–आत्म–एकत्व–ज्ञान तो कर्ता आदि अध्यास का विनाशक होने से उसमें कर्म के साथ संबन्ध की योग्यता है ही नहीं। एक युक्ति के बाद दूसरी युक्ति देते हैं और भी जिस [५]दर्श आदि की निष्पत्ति में फल का व्यवधान की संभावना रहती है, (इससे सहकार का अवसर दिखाते हैं) उसका (दर्श के साथ पौर्णमास का) सहकारी समुच्चय इष्ट है। यहां तो एकत्वमनु–पश्यतः को मोहः कः शोकः इस प्रकार एकत्व दर्शन समकाल ही मोह आदि की निवृत्ति के कथन से कालान्तर में फल नहीं है। इसलिए सहकारी समुच्चय की इच्छा नहीं है। (ज्ञान और उसका फल समकाल होने से सहकारी का अवकाश नहीं है। न्यायसे दूसरे का अभिमत समुच्चय का असंभवता कह कर अब शास्त्र से उसका उपपादन करने के लिए कहते हैं) और भी इस मंत्र–उपनिषद के ब्राह्मण ग्रन्थ (बृहदारण्यक) में 'ब्राह्मणा विविदषन्ति यज्ञेन' इत्यादि तृतीया श्रुति से यज्ञ आदि का (धातु के अर्थ को प्रधान मान कर कहते है) इच्छित के ज्ञान में करण रूप से संबन्ध है। तो फिर (श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्वल्यमर्थविप्रकर्षात्' इस न्याय से प्रकरण का श्रुति की अपेक्षा से पर होने से दुर्बल है) दुर्बल प्रकरण के द्वारा सहकारी रूप से (साधन का करण फल में साधन का सहकारी नहीं होता है जैसे साधन घट का करण दण्ड पानी के आहरण में घट का सहकारी नहीं होता है) संबन्ध की कल्पना कैसे करते हो। प्रधान विद्या (ज्ञान) का सहकारी संबन्ध विधान की इच्छा से निन्दा की गयी यह ठीक नहीं है। (अनिन्दता और प्रधानता दोनों का समान अधिकरण होना असंभव होने से इस प्रकार हेतु गर्भक प्रधानस्य च कहा गया)। इसलिए **'अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा'** इस ब्रह्मसूत्र का विरोध (ब्रह्मविद्या स्वतन्त्र रूप से पुरुषार्थ का हेतु होने से मोक्ष–फल में स्व आश्रम विहित कर्म की अपेक्षा नहीं है, जैसे रजत ज्ञान की निवृत्ति से शुक्ति का ज्ञान होता है। यहां अग्निधन आदि शब्दों से कर्म लक्षित है। प्रधान की

निन्दा से प्रधान-अप्रधान में समुच्चय संभव न होने पर समप्रधानों की तरह विद्याकर्मों का समुच्चय हो जाय इस पर कहते हैं) तथा समसमुच्चय दूसरे को (समसमुच्चयवादी को) इष्ट नहीं होगा। विरोध के कारण उनको इष्ट नहीं है इतनी बात नहीं किन्तु उन्होंने त्याग किया है (अथवा सिद्धान्ती के द्वारा परिहृत हुआ है)। इसलिए कर्म से अविरुद्ध देवता ज्ञान (देवता की उपासना) का ही यहां कर्मों के साथ समुच्चय का विधान इष्ट है।

टीका - शंका - अतिरिक्त फल के लिए समुच्चय करने की इच्छा होती है, दोनों का एक फल होने से वह फल किसी एक के लाभ से दोनों का लाभ इस में कोई अतिशय नहीं है इसी आशय से कहते हैं - देवता का ज्ञान (उपासना) का कर्मफल से अतिरिक्त फल के अभाव होने से समुच्चय संभव नहीं है, इस पर कहते हैं - **विद्यया देवलोक इति [1]पृथक्फलश्रवणात्।** *विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है, इस प्रकार अलग से फल के श्रवण है।*

१. पृथक्फलश्रवणात् - पृथक फल श्रवणसे समुच्चय की अप्रमाणिकता नहीं है। कर्म का पितृलोक पृथक् फल साथ साथ आगे कहेंगे ऐसे समझना चाहिए।

टीका - समुच्चय की इच्छा से एक एक की निन्दा की किस प्रकार व्याख्या होगी। (किस पर व्याख्या होगी इस पर कहते हैं) - अध्ययन विधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः)का मोक्ष से पहले समाप्ति संभव न होने से (मोक्षरूप नित्य फल को उद्‍देश न करता हुआ वेद का अध्ययन विधान करता हुआ स्वाध्याय अध्येतव्य इस विधि सफल नहीं होगा, ऐसा होने पर अर्थात् सफल होगा तो वह विधिवाक्य प्रमाण नहीं होगा। सिद्धान्ती - मोक्ष से पूर्व स्वर्ग आदि फल को उद्देश्य करके प्रवर्तमान वह विधि सफल होगा। पूर्वपक्षी - नहीं होगा। इस पर कहते हैं), देवलोक की प्राप्ति फलाभास होने से, (तो फिर उनकी निन्दा क्यों इस पर कहते है)परित्याग के लिए निन्दा है ऐसे क्यों आपको इष्ट नहीं हैं, इस पर कहते हैं -

तयोर्ज्ञानकर्मणोरिहैकैकानुष्ठाननिन्दा समुच्चिचीषया [१]न निन्दापरै-वैकैकस्य[२] [३]पृथक्फलश्रवणात्। [४]विद्यया तदारोहन्ति। विद्यया देव-लोकः। न [५]तत्र [६]दक्षिणा यन्ति। कर्मणा [७]पितृलोक इति। [८]नहि शास्त्रविहितं किंचिदकर्तव्यतामियात्। [९]तत्रान्धं तमो[१०]ऽदर्शनात्मकं तमः [११]प्रविशन्ति। के, येऽविद्यां विद्याया [१२]अन्याऽविद्या तां कर्मेत्यर्थः। [१३]कर्मणो विद्याविरोधित्वात्। तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणामेव[१४] [१५]केव-लामुपासते [१६]तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः। ततस्तस्मादन्धा-त्मकात्तमसो भूय इव[१७]बहूतरमेव ते तमः प्रविशन्ति। के, कर्म हित्वा ये उ ये तु विद्यायामेव देवताज्ञान एव रता [१८]अभिरताः। [१९]तत्रा-[२०]वान्तरफलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह। [२१]अन्यथा [२२]फलवदफलवतोः संनिहितयो[२२]रंगांगितैव स्यादित्यर्थः।। ९।। *यहां उन ज्ञान (उपासना) और कर्मों की एक एक के अनुष्ठान की निन्दा समुच्चय करने की इच्छा से, निन्दा परक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक का पृथक फल का श्रवण है। विद्या से उस फल को प्राप्त करते हैं। विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है। वहां दक्षिणा अर्थात् कर्मी नहीं जाते। कर्म से पितृलोक की प्राप्ति होती है। शास्त्र ने जिसका विधान किया है वह अकर्तव्य नहीं हो सकता। तत्र अर्थात् ऐसी स्थिति होने पर अन्धं तमः प्रविशन्ति अदर्शनात्मक अन्धकार को प्रवेश करते हैं अर्थात् अज्ञान से व्याप्त देवलोक आदि को प्राप्त करते हैं। कौन प्राप्त करते हैं ? जो विद्या से विपरीत अविद्या अर्थात् कर्म करते हैं। क्योंकि कर्म विद्या का विरोधी है। उन अग्निहोत्र आदि लक्षण वाला केवल अविद्या की उपासना करते हैं अर्थात् कर्म में तत्पर हो कर उनका अनुष्ठान करते हैं। उस अदर्शनात्मक तम से और अधिक तम को प्राप्त करते हैं। कौन ? कर्म को त्याग कर जो विद्या अर्थात् देवताओं की उपासना में अभिरत हैं। विद्या और कर्मों का अवान्तर फल समुच्चय का कारण*

है। नहीं तो संनिहित फलवान् और फलहीन अंग अंगी भाव होगा।। ६।।

१. न निन्दापरैवेति – कर्म उपासना, त्याग करने के लिए नहीं है। २. क्योंकि एक एक सफल है और त्याग करना है, यह विरुद्ध है। ३. इसमें हेतु देते हैं –पृथगिति। ४. पृथक फल का कथन करते हैं – विद्ययेत्यादिना। ५. तदारोहन्तीति – उपासना से उस हिरण्यगर्भ पद प्राप्त करते हैं। इस प्रकार आगे भी समझना चाहिए। ६. दक्षिणा – दक्षिणा से उपलक्षित यज्ञ आदि कर्म के अनुष्ठान करनेवाले। दक्षिणमार्ग के अनुगामी कर्मी यह अर्थ है। ७. पितृलोकः – स्वर्ग। ८. शंका – सफल होने पर भी क्यों त्याग नहीं करना चाहिए इस पर कहते है – नहीति। त्याग करने पर शास्त्र में विधान किये का अनुष्ठान न करने से शास्त्र में अप्रामाणिकता आ जायगी। यह इष्ट नहीं है। यह भाव है। ९. तत्र – वैसे होने पर। उपपत्ति प्रमाण से प्रसंग में विद्या पद से देवताज्ञान ग्राह्यत्व निश्यय होने पर। १०. अदर्शनात्मकमिति – अज्ञानात्मक, अहंभाव अभिमान आदि अज्ञान के अनेक कार्य, मोक्ष के संपादन में अक्षम, देवता आदि योनि यह अर्थ है। ११. प्रविशन्ति – प्राप्नुवन्ति– प्राप्त करते हैं। १२. विद्या अर्थात् सम्यक ज्ञान, न विद्यां इति अविद्यां अर्थात् विद्या के विरोधी। इस को मन में रख कर कहते हैं – विद्याया अन्येति। १३. शंका – अविद्या से अन्य घट आदि भी है तो कर्म अर्थ कैसे करते हो उस पर कहते हैं – कर्मणो विद्याविरोधित्वात्। अविद्या शब्द का अर्थ कर्म है इसमें यह हेतु है। तब विरोधी होना यह नञ् का अर्थ है। विद्या से अन्य यह व्युत्पत्ति मात्र है, अन्य का अर्थ विरोधी यह विवक्षित है। नञ् का अर्थ विरोधि है इसमें प्रमाण देते हैं – 'सादृश्यं तदभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः। इन दोनों में विरोध, नीचे, भिन्नअधिकारी प्रतिपादन में कहेंगे। (न ब्राह्मण अब्राह्मण ब्राह्मण के सदृश क्षत्रिय, ब्राह्मण से भिन्न पत्थर भी हो सकता था। अविघ्न विघ्न का अभाव। अनश्वं प्राणिनं आनय। अश्व से भिन्न। अनुदरा कन्या अर्थात् अल्प उदरवाली कन्या। अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति। अप्राशस्त्य में निन्दित ब्राह्मण के अर्थ में। विरोध– अधर्म धर्म विरुद्ध।) १४. समस्त वाक्य सावधारण (निश्चयात्मक) है इस आशय से कहते हैं– एवेति। १५. उसीका अर्थ करते हैं – केवलामिति। उपासना के साथ समुच्चय के बिना। १६. कोई कर्म की उपासना नहीं करते हैं, उपासना करते हैं यह शब्द

गलत स्थान में प्रयुक्त हुआ है इस आशंका पर व्याख्या करते हैं – तत्परा इति। अर्थात् परम पुरुषार्थ के साधन रूप से कर्म ही पर है ऐसा अभिप्राय जिनका है यह विग्रह है। १७. बहुतरमिति – तम से बहुतर होना मतलब उसके कार्य अभिमान आदि का अधिक होना। १८. अभिरता इति – रतिवाले होकर लग जाते हैं। १९. तब तो कर्म और उपासना दोनों त्याग के योग्य है ऐसी शंका का खंडन करते हुए दूसरे मंत्र अर्थात् आगे के मंत्र का अवतरणिका देते हैं – तत्रेत्यादिना। वहां प्रत्येक निन्दित होने से और त्याग के अयोग्य होने से (समुच्चय का विधान है) २०. अवान्तरफलेति – मुख्य फल तो चित्तशुद्धि ज्ञान द्वारा मोक्ष फल है। २१. अन्यथेति – अवान्तर फल के भेद का कथन न होने से। २२. फलवदफलवतोरित्यादि – फलवाले के निकट अफलवाला उसका अंग होता है यह न्याय है। उनकी निकटता एक शास्त्र में विहित होने से। एक शास्त्र का अर्थ एक वेद में। २३. अंगांगितैवेति – दर्श और पूर्णमास के समान दोनों प्रधानों का साथ साथ अनुष्ठान करना यह समुच्चय का अर्थ है। दर्श और प्रयाज के जैसे अंग अंगी रूप से नहीं।

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।। १०।।

विद्या अर्थात् उपासना का फल अलग कहा गया है तथा अविद्या का फल अलग कहा गया है। हमने इस प्रकार विद्वानों का वचन सुना है, जो हमें इसकी व्याख्या की है।। १०।।

अन्यदेवेत्यादि – अन्यत्पृथगेव विद्यया क्रियते फलमित्या-हुर्वदन्ति विद्यया देवलोको विद्यया तदारोहन्तीति श्रुतेः। अन्यदाहु-रविद्यया कर्मणा क्रियते कर्मणा पितृलोक इति श्रुतेः। इत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम्। [१]य आचार्या नोऽस्मभ्यं तत्कर्म च ज्ञानं च विचचक्षिरे व्याख्यान्तवन्तस्[२]तेषामय[३]मागमः [४]पारम्पर्यागत इत्यर्थः।। १०।।

विद्या (उपासना) से पृथक् फल होता है इस प्रकार आचार्य कहते हैं। विद्या से देवलोक आरोहण करते हैं अर्थात् प्राप्त करते है, विद्या से उस लोकमें जाते हैं जहां कर्मी नहीं जा पाते हैं इस प्रकार श्रुति

से यह बात सिद्ध होती है। अविद्या (कर्म) *से पृथक फल होता है, कर्म से पितृलोक इस प्रकार की श्रुति से यह बात सिद्ध होती है। इस प्रकार हम धीर अर्थात् विद्वानों का वचन सुना है। जो आचार्यो ने हमें उस कर्म और ज्ञान की व्याख्या की है। उनका यह आगम अर्थात् उपदेश परंपरा से आया है, यह अर्थ है।। १०।।*

१. वे विद्वान कौन है इस पर कहते हैं – य इति। २. उनका व्याख्यान अपनी कल्पना से नहीं है इस पर कहते हैं – तेषामिति। ३. आगमः – उपदेश। ४. पारम्पर्यागत इति – आचार्य परंपरा से प्राप्त यह अर्थ है। वे भी श्रुति के अनुसार ही कहे हैं। इसलिए इस उपदेश में अप्रामाणिकता की शंका नहीं करनी चाहिए।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।। ११।।

कर्म और उपासना इन दोनों को जो मिला कर अनुष्ठान करते हैं, वे कर्म से मृत्यु को तर कर अर्थात् स्वाभाविक कर्म से होने वाले पापों से छूट कर, उपासना से अमरत्व अर्थात् हिरण्य गर्भ लोक को प्राप्त करते हैं।। ११।।

[१]यत एवमतो विद्यां चाविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः। यस्तदेत-दुभयं सहैकेन पुरुषेणानुष्ठेयं [२]वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण [३]एवैक पुरुषार्थसंबन्धः [४]क्रमेण स्यादित्युच्यते अविद्यया कर्मणाऽग्निहोत्रादिना मृत्युं [५]स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च [६]मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वा[७]ऽतिक्रम्य [८]विद्यया देवताज्ञानेनामृतं [९]देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति। [१०]तद्ध्यमृत-मुच्यते यद्देवतात्मगमनम्।। ११।। *जिस लिए ऐसी बात है इसलिए विद्या और अविद्या अर्थात् देवता की उपासना और कर्म। जो इन दोनों को एक साथ एक ही पुरुष के द्वारा अनुष्ठान किया जाना चाहिए, इस प्रकार जानता है, उस ऐसे समुच्चय करनेवाले का ही पुरुषार्थ संबन्ध क्रमसे होगा, इसे कहते हैं – अविद्या से अर्थात्*

अग्निहोत्रादि कर्मों से मृत्यु शब्दवाच्य स्वाभाविक कर्म और ज्ञान, दोनों को पार कर अर्थात् अतिक्रमण करके विद्या से अर्थात् देवता की उपासना से अमृत अर्थात् देवता स्वरूप को प्राप्त करता है। देवताओं की स्वरूप प्राप्ति ही अमृत है।। ११।।

१. दोनों फलवाले होने से त्याग के अयोग्य हैं तथा प्रत्येक के अनुष्ठान की निन्दा की गयी है। इसलिए समुच्चय विधान में मंत्र की अवतरणिका देते हैं – यत एवम्। २. वेदेति – जानने के बाद ही अनुष्ठान होता है। उसी समुच्चय करने वाला का आगे का भाष्य है। ३. एक पुरुषार्थ संबन्ध इति – एक पुरुषार्थ देवतास्वरूप नामवाला अमृत की प्राप्ति, यह अर्थ है। ४. क्रमेण – स्वाभाविक कर्म उपासना नामक मृत्यु तरण पूर्वक। ५. मृत्यु शब्द की व्याख्या करते हैं – स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं चेति। शास्त्र सम्मत न होता हुआ पुरुष बुद्धि से उत्पन्न पूर्व संस्कार अनुसार सामान्य कर्म या सामान्य उपासना, यह अर्थ है। ६. शंका – मृत्यु शब्द मारक यम आदि में प्रसिद्ध है तो कैसे विपरीत व्याख्यान करते हो ? इस पर कहते हैं – मृत्युशब्दवाच्यमुभयमिति। **'सा वा एषा देवता एतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तः तद्गमयांचकार'** वह प्राण नाम वाला देवता इन वाणी आदि देवताओं पाप रूप मृत्यु का नाश करके जहां दिशाओं का अन्त है वहां चला गया इत्यादि श्रुतिमें कहा है। शास्त्रीय ज्ञान आदि से संस्कृत मनुष्यों जहां निवास करते हैं उस आर्यावर्त को मध्यदेश कहते हैं। उससे अतिरिक्त देश दिशाओं का अन्त कहलाता है। आदि से 'असतो मा सद्गमय' आदि मंत्र के व्याख्यान रूप श्रुति। वहाँ कहा है कि असत् ही मृत्यु है अर्थात् असत् शब्द से स्वाभाविक उपासना और कर्म मृत्यु रूप से व्याख्या की गयी है। स्वाभाविक उपासना और कर्म को ही मृत्यु पद से परामर्श करके उनको मृत्युत्व कथन से वे ही यहां मारक होने से मृत्यु शब्द का अर्थ है। ७. अतिक्रम्येति – निरोध करके। स्वाभाविक ज्ञानकर्मों का संस्कार शास्त्रीय ज्ञानकर्मो के संस्कार से उपमर्दित हो जाते हैं यह प्रसिद्ध है।शास्त्रीय कर्म उपासना से उत्पन्न पुण्य के प्रभाव से वे संस्कार क्षीण हो जाते हैं। उससे उसके अनुसार प्रवृत्ति के अभाव से पाप उत्पत्ति में प्रतिबन्ध हो जाता है। ८. इस प्रकार कर्मों से निष्पाप विशुद्ध होकर देवता उपासना से उत्पन्न पुण्य–अदृष्ट के द्वारा देवताभाव नामवाले अमृत को प्राप्त करता है। इस पर कहते हैं – विद्ययेत्यादिना। ९. देवतात्मभावमश्नुत इति

–शंका– एक एक का भी यही फल है। विद्या से देवलोक और कर्म से पितृलोक ऐसी श्रुति है। उस उस लोक की प्राप्ति ही उस उस लोक में देवता के स्वरूप में अवस्थान है। तो फिर कैसे एक एक के फल की निन्दा की गयी और समुच्चय फल के रूप में कहा जाता है ? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि अमृत नाम वाला देवतात्म भाव की प्राप्ति अर्थात् देवता सायुज्यम्। व्यष्टि उपाधि से हुआ परिच्छेद से मुक्त हो कर समष्टि उपहित की प्राप्ति यह अर्थ है। लोक की प्राप्ति तो लोक अभिमानी देवता के सामीप्य आदि रूप, इस प्रकार भेद होने से। वास्तविकता यह है कि देवतात्मभाव ज्ञान द्वारा मोक्ष का साधन है। **'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचिरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्'** इस प्रकार ब्रह्मलोक जाने वालों का ब्रह्मा के साथ मोक्ष का श्रवण है। लोक की प्राप्ति तो भोग मात्र का साधन है, इस प्रकार भेद है। इस प्रकार सकाम कर्म और उपासना की निन्दा कर निष्काम समुच्चय का यहां विधान किया जाता है यह समझना चाहिए। क्योंकि भोग–मोक्ष में सकामता–निष्कामता हेतु हैं। यहां ज्ञान काण्ड में ज्ञान के साधन कर्म और उपासना का विधान करने के योग्य है। शंका – निष्काम अनुष्ठान मोक्ष के कारण होने से एक एक का भी अनुष्ठान परंपरा से मोक्ष में पर्यवसान होगा, तब समुच्चय का विधान फलहीन होगा। नहीं। एक एक की अनुष्ठान में बिलम्ब से और समुच्चय से शीघ्र फल होगा। समुच्चय से मलविक्षेप का एक साथ निवारण होगा, एक एक से क्रम से होगा। १०. शंका– पीयूष के पर्यायवाची अमृत देवताओं का पेय किसी द्रव्य में प्रसिद्ध है। देवात्मभाव तो अमृत शब्द से प्रसिद्ध नहीं है। प्रसिद्ध का त्याग कर अप्रसिद्ध कैसे कहते हो ? शास्त्र में प्रसिद्ध होने से आपकी शंका ठीक नहीं। इसे कहते हैं – तद्धीति। मृत्योर्माऽमृतं गमय इत्यादि मंत्रों में देवतात्मभाव ही अमृत के रूप में कहा गया है। वैसे वहां ब्राह्मण वाक्य है **'अमृतं मा कुर्वित्येवैतदाहेति।** देवताओं का पेय का तो केवल कर्म से प्राप्त हो सकने से समुच्चय फलत्व कथन का असंगति से अवकाश नहीं है। टीका – (जो अध्ययन विधि को लेकर शंका थी उसे भाष्य के कथन से परिहार करते हैं) फल शब्द मोक्ष में रूढ़ नहीं है (फल शब्द मोक्ष तथा स्वर्ग आदि में साधारण है) (उसमें हेतु देते हैं)मोक्ष नहीं चाहने वाले भी स्वर्ग फल चाहते हैं। यहां (स्वर्ग आदिमें) फल

का व्यवहार देखा जाने से (मोक्ष से पूर्व स्वर्गादि फल से स्वाध्याय विधि में प्रमाणता अक्षुण्ण है)। जो देवलोक प्राप्त करना चाहते हैं उनको वही फल होता है (स्वर्गादि फलवाले होने पर भी उनकी त्याग की इच्छा बन सकती है, इसलिए त्याग के लिए निन्दा की जाती है। इसलिए समुच्चय के लिए निन्दा यह सिद्धान्त है) यह अर्थ है।। ६।। १०।। ११।।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्या्ँरताः।। १२।।

जो केवल असंभूति अर्थात् अव्यक्त की उपासना करते हैं वे अज्ञान अन्धकार में प्रवेश करते हैं। और जो केवल संभूति अर्थात् हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं वे उससे भी घोर अन्धकार में प्रवेश करते है।। १२।। [१]**अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चि-चीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते - अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिं संभवनं संभूतिः** [२]**सायस्य कार्यस्य सा संभूतिस्तस्या अन्याऽसंभूतिः प्रकृतिः कारण**[३]**मविद्याऽव्याकृताख्या तामसंभूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारण-मविद्यां** [४]**कामकर्मबीजभूतामदर्शनात्मिकामुपास्ते ये ते तदनुरूपमेवान्धं तमोऽदर्शनात्मकं प्रविशन्ति। ततस्तस्मादपि भूयो बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति य उ संभूत्यां** [५]**कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः।। १२।।** *अब व्याकृत अव्याकृत उपासनाओं का समुच्चय की इच्छा से प्रत्येंक की निन्दा कही जाती है - उत्पन्न होना संभूति है, उत्पन्न होने वाले कार्य को संभूति कहते हैं। उससे भिन्न असंभूति अर्थात् अव्याकृत नामवाला कारण-अविद्या प्रकृति है। उस असंभूति की जो उपासना करते हैं उसके अनुरूप ही अदर्शनात्मक अज्ञान अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं। उससे भी अधिक अदर्शनात्मक अज्ञान अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं जो हिरण्यगर्भ नामवाले कार्यब्रह्म में रत हैं अर्थात् उसकी उपासना करते हैं। १. शुद्ध अन्तःकरण, विरक्त संन्यासिओं के लिए ईशावास्य इत्यादि मंत्रों से ब्रह्म-आत्मा-एकत्व विद्या फल*

सहित कहा गया। अशुद्ध अन्तःकरण वालों के लिए अन्धं तम इत्यादि मंत्रों से ज्ञान में अधिकारी बनने के लिए दूसरा प्रकरण का आरंभ हुआ। उसमें जो मलविक्षेप रूप दोनों अशुद्धिवाले हैं, उनके लिए शीघ्र फल प्राप्ति के लिए कर्म–उपासना के समुच्चय का विधान किया। जो केवल विक्षेप रूप अशुद्धिवाले हैं उनके लिए केवल उपासना ही कहना चाहिए, वहां पर भी शीघ्र फल प्राप्ति के लिए व्याकृत अव्याकृत उपासनाओंका समुच्चय का वेद विधान करता है, इस आशय से अवतरण करते हैं – अधुना इत्यादि से। कार्य–कारण हिरण्यगर्भ और प्रकृति व्याकृत और अव्याकृत शब्दों से कहे जाते हैं। २. सा यस्य कार्यस्य सा संभूतिरिति – धर्म शब्द धर्मी में लाक्षणिक, अधीक तेजवाले में जैसे यह तेज है प्रयोग होता है। अथवा मतुप् का लोप छान्दस है, यह अभिप्राय है। संभूत्यां रताः यहां पर भी वैसे ही है योग से। असंभूति पद में नञ् तथा बहुब्रीहि आदृत नहीं है इस पर ध्यान देना चाहिए। ३. सांख्य अभिमत प्रकृति का वारण करते हैं – अविद्याऽव्याकृताख्येति।'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' इस मंत्रवर्ण से।'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इति श्रुति से, यह भाव है। ४.अविद्या की कारणता उपपादित करने के लिए विशेषण देते हैं– काम इत्यादि से। अविद्या का अर्थ विद्या का अभाव नहीं है, जिससे हिरण्यगर्भ आदि भाव वस्तु का उपपादनता असंभव हो जायगा। किन्तु त्रिगुणात्मक भावरूप उस विद्या का विरोधी होने से अविद्यात्व इस आशय से कहते हैं – कामेति। ५. संभवनं अर्थात् उत्पन्न होना संभूति है इत्यादि कहे गये विधि से सामान्य कार्य, यह अर्थ होने पर भी यहाँ संभूति शब्द हिरण्यगर्भ का परामर्श करता है। क्योंकि कार्यों में प्रथम होने से उसका प्राण आदि रूप से उपनिषदों में अनेक बार उपास्यता सुना गया है, इस आशय से संभूति शब्द की व्याख्या करते हैं – कार्य इत्यादि से।

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।। १३।।

हिरण्यगर्भ की उपासना से भिन्न फल और अव्यक्त की उपासना से भिन्न फल कहा है। इस प्रकार हमने ज्ञानियों का वचन सुना है, जो ज्ञानी जन हमें इसकी व्याख्या की है।। १३।।

अधुनोभयोरुपासनयोः समुच्चयकारण[१]मवयवफलभेदमाह अन्यदेवेति।

अन्यदेव पृथगेवाऽहुः फलं संभवात्संभूतेः कार्यब्रह्मोपासनादणिमाद्यै-श्वर्यलक्षणं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः। तथा चान्यदाहुरसंभवादसंभूतेर-व्याकृतादव्याकृतोपासनाद्यदुक्तमन्धं तमः प्रविशन्तीति [2]प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यते इत्येवं शुश्रुम धीराणां वचनं ये नस्तद्विचचक्षिरे व्याकृताव्याकृतोपासनफलं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः।। १३।। *अब दोनों उपासनायों का समुच्चय के लिए अवयवों का फलभेद कहते हैं – अन्यदेव इत्यादि से। संभव अर्थात् संभूति अर्थात् कार्यब्रह्म की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्य लक्षण वाला पृथक् फल कहा है, जिसकी हमने व्याख्या की है। वैसे असंभव से अर्थात् असंभूति से अर्थात् अव्याकृत की उपासना से पृथक् फल कहा गया है जिसे हम अन्धं तम प्रविशन्ति के भाष्य में कहा है, जिसे पौराणिकों ने प्रकृतिलय कहा है। इस प्रकार हमने ज्ञानीओं का वचन सुना है जो हमें व्याकृत और अव्याकृत उपासनाओं का फल की व्याख्या की है।। १३।।*

१. अवयवफलभेदमिति- एक एक का फलभेद यह अर्थ है। समूह का एक एक अवयव होता है। २. प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यत इति- वे पौराणिक इस प्रकार कहते हैं **'दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः। भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रंत्वाभिमानिकाः ।। बौद्धाः दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः। पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः।।** इन्द्रिय उपासक दश वर्ष, भूत उपासक सौ, अहंकार उपासक हजार, बुद्धि अर्थात् महत् तत्त्व के उपासक दश हजार, और अव्यक्त उपासक एक लाख वर्ष प्रकृति में लीन रहते हैं। यहाँ अव्यक्त अर्थात् प्रकृति, उसके उपासक, उस प्रकृति में एक लाख वर्ष तक लीन रहते हैं। यह प्रकृति लय वायु पुराण में कहा गया है। ये दोनों श्लोक 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्' इस योग सूत्र के भाष्य आदि में उद्धृत किये गये हैं।

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय्ँसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वासंभूत्यामृतमश्नुते।। १४।।

हिरण्यगर्भ और अव्यक्त दोनों की साथ साथ जो उपासना करता है,

वह हिरण्यगर्भ की उपासना से अनैश्वर्य धर्म काम आदि मृत्यु को अतिक्रमण कर, अव्यक्त उपासना से प्रकृतिलय रूप अमरत्व को प्राप्त करता है।। १४।।

[१]यत एवमतः समुच्चयः संभूत्यसंभूत्युपासनयोर्युक्त एवैक-[२]पुरुषार्थत्वाच्चेत्याह - संभूति च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह। विनाशेन विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणाऽभेदेनोच्यते विनाश इति। तेन तदुपासनेना[३]नैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा [४]हिरण्यगर्भोपासनेनह्यणिमादिप्राप्तिः फलम्। तेनानैश्वर्यादि-मृत्युमतीत्यासंभूत्याऽव्याकृतोपासनयाऽमृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते। [५]संभूतिं च विनाशं चेत्यत्रावर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः। [६]प्रकृतिलय-फल श्रुत्यनुरोधात्।। १४।। *जिस कारण दोनों का फल भेद सुना जाता है इसलिए संभूति असंभूति उपासनाओं का समुच्चय युक्त ही है क्योंकि एक पुरुषार्थ के लिए हैं इस पर कहते हैं - संभूति और विनाश इन दोनों को एक साथ जो उपासना करता है। जिस कार्य का विनाश धर्म है, इस प्रकार धर्मी को धर्म से अभेद करके विनाशी को विनास कहते हैं। वह विनास से अर्थात् विनास की उपासना से अनैश्वर्य अधर्म काम आदि दोष समूह रूप मृत्यु का पार कर, हिरण्यगर्भ उपासना के द्वारा अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति फल है। उन अनैश्वर्य आदि मृत्यु को पार कर असंभूति अर्थात् अव्याकृत की उपासना द्वारा प्रकृतिलय लक्षण अमृत प्राप्त करता है। प्रकृतिलय फलश्रुति के अनुरोध से संभूतिं च विनाशं च यहाँ अवर्ण के लोप से निर्देश समझना चाहिए। अर्थात् असंभूति प्रकृति और विनाश हिरण्यगर्भ ऐसा समझना चाहिए।। १४।।*

यत एवमत इति - जिसलिए प्रत्येक का फलभेद सुना जाता है इसलिए। २. एकपुरुषार्थत्वादिति - बहुत समय तक ऐश्वर्य-सुख के अनुभव पूर्वक दुःख के अनुभव का अभाव रूप पुरुषार्थ हेतु से। यह समुच्चय अनुष्ठान के बिना

तुरंत प्राप्त होना असंभव होनेसे यह भाव है। ३. अनैश्वर्य आदि ही मरण के कारण होने से यहाँ मृत्यु रूप से विवक्षित है, इस आशय से मृत्यु पद की व्याख्या करते हैं – अनैश्वर्यमित्यादिना। ४. कैसे उससे उस प्रकार की मृत्यु से तर जायगा इस पर कहा – हिरण्यगर्भेत्यादि। **यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवतीति श्रुतेः'** जैसी भावना वाला इस लोक में पुरुष होता है मरने के बाद वैसा रूप प्राप्त करता है इस श्रुति से अणिमादि से संपन्न मैं हिरण्यगर्भ हूँ ऐसी भावना से वैसा फल की प्राप्ति उचित होने से यह भाव है। ५. संभूतिं च विनाशं च यहां अवर्ण लोप से निर्देश है इस पर कहते हैं – अकारलोपश्छान्दस इति। पूर्वमंत्र के साथ इस मंत्रका संहितापाठ में एङ्पदान्तादति इस सूत्र से पूर्वरूप भी संभव है। इस प्रकार विचार करना चाहिए। ६. प्रकृतिलयश्रुत्यनुरोधादिति – अमृतत्त्व का प्रसंग से अन्य अर्थ असंभव होने से असंभूति उपासना के बिना प्रकृतिलय नाम वाला अमृत की प्राप्ति संभव नहीं है, यह भाव है। टीका – (प्रतिज्ञा दृष्टान्त आदि से प्रकृति का अर्थ ब्रह्म की प्रकृति यह अर्थ निर्णीत होने से अविद्या अव्याकृत नामवाला यह व्याख्या विरुद्ध है इस पर कहते हैं। चैतन्य अधीन कहने से इसको प्रधान शब्द से अलग करता है। चैतन्य के अधीन माया परमेश्वर की उपाधि है। (ब्रह्म में संसार के जन्म आदि की हेतुता परमेश्वर को ले कर है।))। **'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्मायिनं तु महेश्वरम्'** माया प्रकृति है और मायी महेश्वर है इस प्रकार अन्य श्रुति में प्रसिद्ध यहाँ असंभूति शब्द से कहा जाता है, ब्रह्म अर्थ नहीं है। उस निर्विकार का साक्षात् (माया को स्वीकार किए बिना) प्रकृतित्व संभव नहीं है। भाष्कराचार्य अभिमत परिणामवाद (संसार ब्रह्म का परिणाम है) का खंडन हमने तत्त्वालोक ग्रन्थ में किया है। (शंका – मनुष्य सुख चाहता है। प्रकृति लय में सुख का अभाव होने से वह पुरुषार्थ कैसे, इस पर कहते हैं) सांसारिक दुःखों के अनुभव का अभाव होने से सुषुप्ति के समान प्रकृतिलय को मनुष्य चाहते हैं इसलिए वह भी पुरुषार्थ है। (सुख अर्थात् दुःखों का अभाव। इसलिए पुरुषार्थ है। सुषुप्ति में स्वरूप सुख होने पर भी आवृत है। यह स्पष्ट है फिर भी उसकी उपेक्षा करके दुःख के अनुभव का अभावरूप से पुरुषार्थ

कहा है।) कर्म और उपासना के फल के सदृश प्रकृति उपासना का फल भी ईश्वर ही देगा। (फलं च इस उक्ति का समाधान करने के बाद शंकाभास को भासित करते हैं) इससे प्रकृति जड़ होने से फल का दाता नहीं हो सकती है, इसलिए उसकी उपासना नहीं करनी चाहिए यह शंका निराधार है।। १२।। १३।। १४।।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।। १५।।

ज्योतिर्मय पात्र से सत्य अर्थात् आदित्य मंडल में स्थित पुरुष का मुख अर्थात् प्राप्ति का द्वार ढका हुआ है। हे पूषन् (सबका पोषक सविता) सत्यधर्म वाले आप के स्वरूप के दर्शन के लिए अथवा मुझ सत्यधर्म वाले के लिए, उसे हटा दो। जिससे मैं आपके स्वरूप का दर्शन कर सकूँ।। १५।।

१. टीका – विस्तार से कहे गये अर्थ समूहों को संक्षेप से कहते हैं – **मानुषदैववित्तसाध्यं फलं [1]शास्त्रलक्षणं [2]प्रकृतिलयान्तम्। एतावती [3]संसारगतिः। [4]अतः परं पूर्वोक्तमात्मैवाभूद्विजानत इति सर्वात्मभाव एव सर्वेषणासंन्यासज्ञाननिष्ठाफलम्। [5]एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्ति-लक्षणो वेदार्थोऽत्र प्रकाशितः। तत्र प्रवृत्ति लक्षणस्य वेदार्थस्य विधिप्र-तिषेधलक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने [6]प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मण[7]मुपयुक्तम्। निवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य प्रकाशनेऽत ऊर्ध्वं बृहदारण्यकमुपयुक्तम्।** *शास्त्र से जाने जाने वाले मनुष्य और देवता संबन्धी धन से सिद्ध होने वाले फल प्रकृतिलय पर्यन्त है। यहाँ तक संसार की गति है। इसके बाद पहले कहे गये आत्मैवाभूद्विजानत इस मंत्र में कहे गये समस्त एषणा त्याग पूर्वक ज्ञाननिष्ठा से सर्वात्मभाव ही फल है। इस प्रकार दो प्रकार के प्रवृत्तिनिवृत्ति लक्षण वाले वेद का अर्थ इस उपनिषद में प्रकाशित हुआ है। वहाँ समस्त विधि प्रतिषेध लक्षण वाले प्रवृत्ति लक्षण वाले वेदार्थ का प्रकाशन में प्रवर्ग्य में समाप्त*

होने वाला ब्राह्मण उपयुक्त है। निवृत्ति लक्षण वाले वेदार्थ के प्रकाशन में प्रवर्ग्य से आगे बृहदारण्यक उपनिषद उपयुक्त है।

शास्त्रलक्षणमिति - शास्त्र से लक्षित या ज्ञापित। २. प्रकृतिलयान्तमिति- पितृ लोक से लेकर प्रकृतिलय पर्यन्त। ३. संसारगतिरिति - संसार के अन्तःपाती संसार के अन्दर होने वाले फल है। ४. अतः परम् - इससे ऊपर संसार से बाहर नित्य फल। ५. एवमिति - कहे गये फलभेद पूर्वक। ६. प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमिति - बृहदारण्यक शाखा के शुरू से लेकर प्रवर्ग्य नाम वाले कर्म तक दो अध्याय कर्म के संपादक ब्राह्मण, यह अर्थ है। ७. उपयुक्तं - अर्थवाला। ८. अत ऊर्ध्वमिति - प्रवर्ग्या कर्म समाप्ति के बाद तृतीय अध्याय से लेकर प्रवृत्त यह अर्थ है।

टीका - शरीर की स्वस्थता, गौ, भूमि, सोना आदि साधन संपत्ति मनुष्य धन है। देवता की उपासना देवता संबन्धी धन है।

१. आगे के ग्रन्थ के संबन्ध बताने की इच्छा से विशेष अर्थ का अनुवाद करते हैं - **तत्र [१]निषेकादिश्मशानान्तं कर्म कुर्वञ्जिजीविशेद्यो विद्यया सह[२]परब्रह्मविषया तदुक्तं विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुत इति। तत्र केन मार्गेणामृतत्वमश्नुत [३]इत्युच्यते [४]तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष [५]एतदुभयं सत्यं ब्रह्मोपासीनो [६]यथोक्तकर्मकृच्च यः सोऽन्तकाले प्राप्ते [७]सत्यात्मानमात्मनः प्राप्तिद्वारं याचते हिरण्मयेन पात्रेण। हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्मयमित्येतत्। [८]तेन पात्रेणेवापिधानभूतेन सत्यस्यैवाऽऽदित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणोऽपिहितमाच्छादितं मुखं [९]द्वारं [१०]तत्त्वं हे पूषन्नपावृण्वपसारय सत्यधर्माय तव सत्यस्योपासनात्[११]सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै। मह्य[१२]मथवा यथाभूतस्य धर्मस्यानुष्ठात्रे दृष्टये तव सत्यात्मन उपलब्धये।। १५।।** *उनमें भी गर्भाधान से ले कर अन्त्येष्टि पर्यन्त कर्म करते हुए जो जीना चाहता है वह अपरब्रह्म हिरण्यगर्भ की उपासना के साथ कर्मों का अनुष्ठान करें। इसे*

'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' मन्त्रों से कहा है। तब किस मार्ग से अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है, इस पर कहते हैं। (यहाँ मार्ग विषयक प्रश्न है) वह जो सत्य है वह आदित्य है। जो यह आदित्य मंडल में पुरुष है और जो यह दक्षिण आँख में पुरुष है ये दोनों सत्य है। उस सत्य ब्रह्म की उपासना के साथ कर्म करनेवाला अन्तिम समय प्राप्त होने पर सत्यात्मा से आत्मा की प्राप्ति के द्वार की याचना करता है, हिरण्मयेन पात्रेण इत्यादि मंत्रों से। हिरण्य-सोना के जैसे हिरण्मयं अर्थात् ज्योतिर्मय। ढक्कन रूप उस पात्र से आदित्य मंडल में स्थित ब्रह्म का मुख अर्थात् द्वार आच्छादित है। तुम सत्यधर्म वाले हो तुम्हारे उपासना से मैं भी सत्यधर्म वाला हूँ, उस मुझ सत्यधर्मवाले की उपलब्धि के लिए अथवा तुझ सत्यधर्म वाले की उपलब्धि के लिए, हे पूषन् उसे तुम हटा दो।। १५।। निषेकादिश्मशानान्तमिति - गर्भाधान से से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त। २.अपरब्रह्म - हिरण्यगर्भ नाम वाला कार्यब्रह्म। ३. इत्युच्यत इति - इस प्रकार अपेक्षा होने पर जिस मार्ग से प्राप्त करता है वह मार्ग हिरण्मय इत्यादि मंत्रों से कहा जाता है। ४. प्रश्न - दक्षिण मार्ग केवल कर्मीओं से गन्तव्य है, समुच्चय करनेवालों का उत्तर मार्ग गन्तव्य होने से उसके लिए उसके उपास्य देवता हिरण्यगर्भ से प्रार्थना करनी चाहिए, फिर सूर्य की याचना क्यों, ऐसी आशंका को शान्त करने के लिए बृहदारण्यक श्रुति का आश्रय लेकर कहते हैं - तद्यदित्यादि। वह जो सत्य ब्रह्म पहले उपास्य रूप से कहा गया वह यह प्रसिद्ध आदित्य है, वह मंडल मात्र नहीं, किन्तु उसके अभिमानी पुरुष है जो दक्षिण आँख के पुरुष से अभिन्न है। दक्षिणेऽक्षन्पुरुष इसके बाद - ये दोनों परस्पर में प्रतिष्ठित हैं। रश्मियों से सूर्य आंख में प्रतिष्ठित है। इन्दियों से मंडल को प्रकाशित करता हुआ चाक्षुष पुरुष सूर्य में प्रतिष्ठित है। वह जब शरीर से निकलने वाला होता है तब शुद्ध उस मंडल को देखता है। इसको ये रश्मियाँ लौटाते नहीं। ५. यहाँ श्रुति में चाक्षुष पुरुष से अभिन्न हिरण्यगर्भ ही मंडल के अभिमानी रूप से अवस्थित होता हुआ उपास्य रूप में ज्ञात है। इसलिए मार्ग के लिए उसकी प्रार्थना करनी

चाहिए। इस आशय से कहते हैं – एतदुभयमिति। समुच्चय में वही उपास्य होने से यह भाव है। ६. यथोक्त– कर्मकृच्चेति – वेद में जिस प्रकार अग्निहोत्र आदि कर्म कहे गये हैं उन्हें उसी प्रकार जो करता है वह यथोक्तकर्मकृत् है। उपासना के समुच्चय के लिए चकार है। अर्थात् समुच्चय करनेवाला। ७. सत्यात्मानमित्यादि– अपनी आत्मा का सत्यात्म की प्राप्ति का द्वार अर्थात् उसको प्राप्त करने का मार्ग, उपास्य सत्यात्मा से प्रार्थना की जाती है। इस प्रकार अन्वय करना चाहिए। अकथितं च इस पाणीनीय सूत्र में दुह् याच् पच् इत्यादि नियम से याचते यह द्विकर्मक धातु है। बलिं याचते वसुधाम् यह दृष्टान्त है। ८. तेन पात्रेण – पात्र के तुल्य तेज मंडल से यह अर्थ है। ९. द्वारम् – प्राप्ति का मार्ग। १० – तत् – पात्र। ११. धर्म का अर्थ उपासना नाम वाला धर्म या उपासना से होनेवाला अपूर्व विशेष। धर्म उपास्य देवता अधीन होने से उपास्य ब्रह्म में धर्मत्व का आरोप करके कहते हैं – सत्यमित्यादि। अथवा सत्य नाम वाला ब्रह्म ही धर्म (स्वरूप) है जिसका मेरा। १२. अथवा धर्म सत्य का विशेषण है। अर्थात् सत्य है धर्म जिसका उस सत्य धर्म वाला ब्रह्म की उपलब्धि के लिए। टीका – तदुक्तं – तं प्रति उक्तं – पूर्वपक्षी के लिए हमने

कहा है। विद्यां च अविद्यां च इत्यादि मन्त्रों के द्वारा आपेक्षिक अमृतत्व फल हमने पहले कहा है।। १५।। (आपेक्षिक अमृत अर्थात् उपास्य देवता के स्वरूप की प्राप्ति रूप आपेक्षिक अमृत। साक्षात् निष्प्रपंच ब्रह्म प्राप्ति रूप निरपेक्ष निरतिशय अमृतत्व नहीं। इससे समुच्चय अनुष्ठान का निरतिशय अमृतत्व के परंपरा से हेतु होने पर भी देवता–स्वरूप की प्राप्ति द्वारा वह संभव है। इसलिए आपेक्षिकता सही है)

पूषन्नेकर्षे यम सूर्यप्राजापत्य ब्यूह रश्मीन्समूह। तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।। १६।।

हे पूषा, हे एकर्षी, हे यम, हे सूर्य, हे प्रजापति के संतान ! आप अपनी रश्मियों को इकट्ठे करके संवरण करो। क्योंकि मैं आपके कल्याणतम तेजस्वी स्वरूप का दर्शन कर सकूँ। जो यह

आदित्य मंडल में पुरुष है तथा जो व्याहृति अवयव रूप पुरुष है वह मैं ही हूँ।। १६ ।।

[१]पूषन्निति। हे पूषन्। [२]जगतः पूषणात्पूषा रविस्तथैक एव ऋषति गच्छतीत्येकर्षिः। हे एकर्षे। तथा [३]सर्वस्य संयमनाद्यमः। हे यम। [४]तथा रश्मीनां प्राणानां रसानां च स्वीकरणात्सूर्यः। हे सूर्य। [५]प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्य हे प्राजापत्य। [६]व्यूह विगमय रश्मीन्स्वान्। समूह एकी कुरु उपसंहर ते तेजस्तापकं ज्योतिः। [७]यत्ते तव रूपं कल्याणतमत्यन्तशोभनं तत्ते [८]तवात्मनः प्रसादात्[९]पश्यामि। [१०]किंचाहं न तु त्वां भृत्यवद्याचे योऽसावादित्यमण्डलस्थो [११]व्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरुषाकारत्वात्पूर्णं वाऽनेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत्समस्तमिति पुरुषः पुरि शयनाद्वा पुरुषः सोऽहमस्मि भवामि।। १६ ।। *संसार का पोषण करने से पूषन् अर्थात् सूर्य। हे पूषन्। अकेला जाता है इससे एकर्षि। हे एकर्षि। सब का नियमन करने से यम। हे यम। रश्मिओं का अर्थात् प्राणों का और रसों का स्वीकार करने से सूर्य। हे सूर्य। प्रजापति की सन्तान होने से प्राजापत्य। हे प्राजापत्य। व्यूह अर्थात् अपने रश्मिओं को हटाओ। समूह अर्थात् अपनी फैली हुई रश्मिओं को इकट्ठा करो अर्थात् अपने तपाने वाले ज्योति का उपसंहार करो (समेट लो)। जो तेरे कल्याणतम अत्यन्त सुन्दर रूप है उसे मैं आपकी कृपा से देख सकूँ। और भी भृत्य-नौकर के समान में आपसे याचना नहीं कर रहा हूँ, किन्तु अभेद बुद्धि से प्रार्थना कर रहा हूँ क्योंकि जो आदित्य मंडल में व्याहृति का अवयव पुरुष है वह मैं हूँ। पुरुष के आकार होने से पुरुष कहा गया है। अथवा प्राण, बुद्धि के रूप से इसके द्वारा समस्त जगत् पूर्ण है इस से पुरुष कहा गया है। अथवा पुरि-शरीर में शयन करने के कारण पुरुष कहा गया है।। १६ ।।*

१. पूषन्निति - अपने अनुकूल बनाने के लिए सत्यात्मा भगवान को बहुत

सम्मान के साथ सम्बोधन करते हुए कहा। २. जगतः पोषणादिति – **'अग्नौ-प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा'** अग्नि में सही प्रकार से दी हुई आहूति आदित्य को प्राप्त होता है (अथवा आहूति से आदित्य की पूजा होती है)। आदित्य से वर्षा होती है। उससे अन्न और उससे प्रजा की उत्पत्ति होती है। इस स्मृति वाक्य से, यह भाव है। ३. सर्वस्य संयमनादिति – दिन और रात आदि समय के विभाग से संसार के नियत समस्त व्यवहार सूर्य की गति के अधीन होने से यह भाव है। ४. स्वीकरोति इति सूर्य – जो स्वीकार करता है वह सूर्य है इस व्युत्पत्ति का आश्रय ले कर कहते हैं – तथा रश्मीनामिति। रश्मी अर्थात् मरीचि, प्राण अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियां, तथा रस अर्थात् जल आदि तरल द्रव्य है। उनमें रश्मी और रस का स्वीकार व्यक्त है। प्राणों का स्वीकार प्रश्न उपनिषद में कहेंगे। वहाँ की श्रुति इस प्रकार है **'अथाऽऽदित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते यद्दक्षिणां यत्प्रतीची यदुदीची यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरादिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्त इति।** सन्निधत्ते अर्थात् सन्निवेशयति अर्थात् अपनी किरणों से व्याप्त करता है। वही उसका स्वीकरण है। आदित्य जब उदय हो कर पूर्व दिशा में प्रवेश करता है तब पूर्व दिशा के प्राण अर्थात् इन्द्रियों को रश्मियों से व्याप्त करता है .... इत्यादि। ५. प्रजापतेरपत्यमिति – सूर्य प्रजापति का अपत्य, किस कारण से। **'प्रजाकामो वै प्रजापतिः 'स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणश्चेति। आदित्यो ह वै प्राणः इत्यादि।** प्रजा की इच्छा से प्रजापति ने तप किया। वह तप करके जोड़ा को पैदा किया रयि और प्राण। रयि चन्द्रमा है और प्राण सूर्य है। इसलिए प्राजापत्य का अर्थ सूर्य है। ६. व्यूह विगमय इति – ऊह धातु वितर्क अर्थ में होता है। वि उपसर्ग के साथ वह आत्मने पद होने से व्यूहस्व ऐसा कहना चाहिए। इस पर कहते हैं कि आत्मनेपद के विकल्प से पक्ष में परस्मैपद है। उपसर्ग के कारण अन्य अर्थ में वृत्ति है। समूह यहाँ पर भी वैसा समझना चाहिए। ७. प्रार्थित व्यूहन(हटाना) समूहन (इक्कट्ठा करना) का प्रयोजन दिखाते हैं – यत इत्यादि से। ८. तवात्मनः प्रसादात् – आपके प्रसाद से। ९. पश्यामि – पश्यानि यह अर्थ है। देखूं या देखसकूं। लट् लकार को लोट लकार में बदलकर समझना। १०. अहंग्रह उपासक के द्वारा अन्तिम समय में भी वाणी मन का व्यापार वैसे होना चाहिए इसी बात को सूचित

करते हुए कहते हैं - किं चाहमित्यादि। इससे देवता की उपासना और नौकर जैसे याचना देवता की प्रसन्नता के लिए नहीं है यह वेद से अभिप्रेत है, यह ध्वनित होता है। ११. दूसरा असौ शब्द का अर्थ कहते हैं - व्याहृत्यवयव इति। उसका भू शिर है इत्यादि। टीका - व्याहृत्यवयव इति - उसका भू शिर है भुव बाहु है, सुव प्रतिष्ठा अर्थात् पाद है।। १६ ।। १७ ।।
१२. मण्डल पुरुष व्याहृति का अवयव है यह श्रुति में विहित है, इसी विवक्षा से अपेक्षित श्रुति-अक्षरों का निक्षेप करते हैं। वहाँ संपूर्ण बृहदारण्यक श्रुति इस प्रकार है - **'य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरित शिरः एकं शिर एकमेतदक्षरं भूव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे सुवरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद। इति।**

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त्ँ शरीरम्।
ओम् क्रतो स्मर कृत्ँ स्मर क्रतो स्मर कृत्ँ स्मर।। १७।।

मेरे प्राण वायु इस शरीर को छोडकर समष्टि प्राण में लीन हो जाय। ओम् यह सत्यात्मा ब्रह्म का प्रतीक है। अब अग्नि में हवन किया गया यह शरीर भस्म हो जाय। हे क्रतु अर्थात् संकल्पात्मक मन अब तक मैंने जो कर्म या उपासना की है उसे स्मरण करो। अथवा हे अग्नि! मैंने बचपन से जो अनुष्ठान किया है उसे तुम जानते हो इसलिए उसका स्मरण करो। क्रतो स्मर कृतं स्मर इस प्रकार दूबारा कहना आदर के लिए है।। १७।।

वायुरिति। अथेदानीं मम मरिष्यतो वायुः प्राणोऽध्यात्मपरिच्छेदं हित्वाऽधिदैवतमात्मानं सर्वात्मकमनिलममृतं सूत्रात्मानं प्रतिपद्यतामिति वाक्यशेषः। [१]लिंगं चेदं ज्ञानकर्मसंस्कृतमुत्क्रामत्विति द्रष्टव्यम्। [२]मार्ग-याचनसामर्थ्यात्। अथेदं[३] शरीरमग्नौ हुतं [४]भस्मान्तं भूयात्। [५]ओमिति यथोपासनामोंप्रतीकात्मकत्वात्सत्यात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्माऽभेदेनोच्यते। हे [६]क्रतो संकल्पात्मक स्मर यन्मम स्मर्तव्य तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितो-ऽतः स्मरैतावन्तं कालं भावितं कृतमग्ने[७] स्मर यन्मया बाल्यप्रभृत्य-

नुष्ठितं कर्म तच्च स्मर। क्रतो स्मर कृतं स्मरेति पुनर्वचनमाद-रार्थम्[६] **।। १७ ।।** *अब मेरे मरते हुए के वायु अर्थात् प्राण अध्यात्मपरिच्छद इस शरीर को छोड़ कर अधिदैवत आत्मा को अर्थात् सर्वात्मक वायु को अर्थात् अमृत रूप सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ को प्राप्त करें। प्राप्त करें इतना जोड़ कर समझना चाहिए। यह हेतु है अर्थात् कर्म और उपासना से शुद्ध होने के कारण, यह व्यष्टि वायु शरीर से निकले। मार्ग याचना सामर्थ्य से यह समझना चाहिए। अब यह स्थूल शरीर अग्नि को समर्पित होकर भस्म हो जाय। अब समुच्चय उपासना का प्रतीक ओम् होने से, सत्यात्मक अग्नि नाम बाला ब्रह्म ओंकार से अभिन्न होने से, ओंकार का संबोधन किया जाता है। हे क्रतु अर्थात् संकल्पात्मक मन तू स्मरण कर। जो मुझे स्मरण करना चाहिए उसका समय अब उपस्थित हुआ है। इसलिए अब तक जो भावितं-उपासना या कृतं-कर्म किया है उसे स्मरण कर। जो मैंने बचपन से लेकर अबतक कर्म किया है उसका स्मरण कर। क्रतो स्मर कृतं स्मर का दूबारा उच्चारण आदर के लिए है।। १७।।* वायु अनिलं अर्थात् व्यष्टि वायु समष्टि वायु को प्राप्त करें। इस उपलक्षण से कहते हैं - लिंगं चेदं अर्थात् यह हेतु है। २. मार्गयाचनासामर्थ्यादिति - उत्क्रमण विवक्षित न होने पर मार्ग याचना संभव नहीं है, यह भाव है। ३. इदं शरीरं - स्थूल शरीर यह अर्थ है। ४. भस्मान्तमिति - जिसका अन्तिम परिणाम भस्म होता है वह भस्मान्त, जल जाय यह अर्थ है। ५. ओमिति यथोपासनमिति - ओं खं ब्रह्म इस श्रुति से ओंकार आलम्बन में खं ब्रह्म दृष्टि का विधान होने से, सत्य बह्म ओम् प्रतीक होने से, सत्यब्रह्म ही प्रतीक से अभिन्न होकर ओम् से संबोधित होता है। **अयमग्निवैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे** इत्यादि श्रुति से उसकी उपासना कही गयी। इसलिए उसी सत्य ब्रह्म को जाठराग्नि रूप से उपासना की कथन से कहते हैं - अग्न्याख्यमिति। ६. वही सत्य ब्रह्म संकल्पके द्वारा (उपासना के द्वारा)

चिरकाल से विषय होने से आत्मशात् किया हुआ, आत्मा उससे अभिन्नता को प्राप्त हुआ उस रूप से संबोधित होता है, हे क्रतु इस प्रकार। क्रतु शब्द संकल्प वाचक है इसलिए कहते है – क्रतो संकल्पात्मकेति। संकल्प से अभिन्न यह अर्थ है। निघन्टु में 'अपः अप्न' इत्यादि कर्म के नामों में क्रतु शब्द का पाठ कर पुनः तृतीयाध्याय के नवम खंड में 'केतः केतुः चेतः चित्तं .... इत्येकादश प्रज्ञानामानि' इस प्रकार यहाँ प्रज्ञा के नामों में चित्त के पर्याय रूप से पढ़ा गया है। इसलिए वह संकल्पवाची है यह विचारणीय है। ७. आम्रेडित अर्थात् दो बार कहे गये क्रतो स्मर कृतं स्मर का अर्थ कहते हैं – अग्ने स्मर इत्यादि से। यज्ञ आदि से पूजित अग्नि यहाँ क्रतो इस शब्द से संबोधित है। अथवा उपास्य सत्य ब्रह्म। जुहुराण अर्थात् कुटिल एनम् अर्थात् पाप, इसके निराकरण के लिये प्रार्थना आगे कहेंगे। इसलिए यहाँ वचपन से लेकर अनुष्ठित कर्मों का स्मरण करने के लिए प्रार्थना है। ८. अभ्यर्थित अर्थात् जिससे प्रार्थना की गयी उसकी उपेक्षा न हो इसे बताने के लिए दो बार कहा है।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।। १८।।

हे अग्नि देवता ! आप सुन्दर मार्ग से मुझे अपने पास ले चलो। क्योंकि आप मेरे द्वारा अनुष्ठित समस्त कर्म और उपासनाओं को जानते हो। हमारे कुटील पापों को नष्ट कर दो। अब मर रहा हूँ इसलिए और कोई परिचर्या नहीं कर सकता हूँ। केवल वचन से नमस्कार करता हूँ।। १८।।

[१]ओम् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।। औम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इति वाजसनेयसंहितोपनिषत्संपूर्णा।। १।।

पुनरन्येन मन्त्रेण मार्गं याचते - अग्ने नयेति। हे अग्ने नय गमय सुपथा [२]शोभनेन मार्गेण। सुपथेति विशेषेणं दक्षिणमार्गनिवृ-त्त्यर्थम्। निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेण [३]गतागतलक्षणेनातो याचे त्वां पुनः पुनर्गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथा नय। राये धनाय [४]कर्मफ-लभोगायेत्यर्थः। अस्मान्यथोक्तधर्मफल[५]विशिष्टान्विश्वानि सर्वाणि हे देव [६]वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वान्जानन्। किं च युयोधि वियो-जय विनाशयास्मदस्मत्तो जुहुराणं कुटिलं वंचनात्मकमेनः पापम्। ततो वयं विशुद्धाः सन्त इष्टं प्राप्स्याम इत्यभिप्रायः। किन्तु वयमिदानीं ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्तुं भूयिष्ठां बहुतरां ते तुभ्यं नम उक्तिं नमस्कारवचनं विधेम। नमस्कारेण परिचरेमेत्यर्थः। *फिर दूसरे मन्त्र से मार्ग की याचना की जाती है - हे अग्नि सुन्दर मार्गो से मुझे ले जाओ। सुपथा इस विशेषण दक्षिणमार्ग की निवृत्ति के लिए है। गतागत लक्षण वाले दक्षिण मार्ग से मैं दुःखी हो गया हूँ इसलिए आपसे प्रार्थना करता हूँ कि बार बार गमनागमन वर्जित सुन्दर मार्ग से ले चलो। राय अर्थात् धन अर्थात् कर्मफल भोग के लिए ले चलो। यथोक्त धर्मफल-विशिष्ट हमारे समस्त कर्मो को अथवा उपासनाओं को हे देव आप जानते हैं। और भी हमारे कुटिल वंचनात्मक (छल स्वरूप) ऐन अर्थात् पापों का युयोधि अर्थात् विनाश करो। उससे हम विशुद्ध हो कर अभिष्ट को प्राप्त करेंगे यह अभिप्राय है। किन्तु अब हम आपकी परिचर्या करने में असमर्थ हैं, इसलिए बार बार आपको वाणी से नमस्कार करते हैं। नमस्कार द्वारा ही आपकी परिचर्या कर रहे हैं।।*

१. समाप्ति में भी शान्तिपाठ का सांप्रदायिक होने से और कहे गये विघ्न विनाशन आदि प्रयोजन के लिए उसे पाठ करने के लिए प्रतीक रूपसे विन्यास करते हैं अर्थात् लिखते हैं- ओम् पूर्णमद इति। २. सुपथा- पथिन् शब्द का सु के साथ समास होने से समासान्त टच् प्रत्यय की प्राप्ति थी किन्तु न पूजनात् इस सूत्र से पूजन अर्थ वाले से परे समासान्त प्रत्यय नहीं होते हैं अतः

नकारान्त शब्द रहा उसका तृतीया एकवचन सुपथा इस आशय से कहते हैं शोभनेनेति। ३. गतागतलक्षणेनेति – **'अन्ययाऽऽवर्तते पुनः'** इस स्मृति वाक्य से यह भाव है। गीता८.२८। ४. कर्मफलभोगायेति – निष्काम से भी आनुषंगिक रूप से भोग अवर्जनीय है यह समझना चाहिए। अर्थात् निष्काम भाव से यदि कर्म किया है उसका फल नहीं है फिर भी आनुषंगिक फल तो होता है। जैसे पेड़ लगाते हैं फल के लिए छाया उसका आनुषंगिक फल है। आनुषंगिक – आप से आप घटित होनेवाला। अनावश्यक रूप से साथ होनेवाला। ५. विशेष धर्म का विशेष फल अवश्यंभावि निश्चय से अब उसे कहते हैं – फलविशिष्टा-निति। ६. निघन्टु में वयुन शब्द का प्रज्ञा के नाम में पठित होने पर भी कर्मनाम पठित क्रतु शब्द के पर्यायवाची होने से उसका अर्थ भी विरोध नहीं है इस अभिप्राय से व्याख्या करते हैं – वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वेति। प्रकरण से वा शब्द का अर्थ समुच्चय है। ७. विधेमेति – कुर्यामित्यर्थः। विधेम अर्थात् करते हैं। विध् धातु विधान के अर्थ में है। वचन से नमस्कार करते हैं। ८. फलितमाह – नमस्कार के द्वारा आप की परिचर्या (सेवा) करते हैं। निघन्टु में कहा है **'इरज्यति विधेम सपर्यति नमस्यति दवस्यति ऋध्नोति ऋणद्धि ऋच्छति सर्पति विवासति' इति दशपरिचरणकर्माणि इति।**

टीका – मंत्रों के प्रत्येक पद की व्याख्या करके संक्षेप से विचार का आरंभ करते हैं – **'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते' [१]इति श्रुत्वा केचित्संशयं[२] [३]कुर्वन्ति। अतस्तन्निराकरणार्थं संक्षेपतो विचारणां करिष्यामः। [४]तत्र तावत्किंनिमित्तः संशय इत्युच्यते। विद्या शब्देन मुख्या परमात्मविद्यैव [५]कस्मान्न गृह्यतेऽ[६]मृतत्त्वं च। ननूक्तायाः परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च विरोधात्समुच्चयानुपपत्तिः। सत्यम्। विरोधस्तु नावगम्यते विरोधा-विरोधयोः शास्त्रप्रमाणकत्वात्। यथाऽविद्यानुष्ठानं विद्योपासनं च शास्त्रप्रमाणकं तथा तद्विरोधाविरोधावपि। [७]यथा च न हिंस्यात्सर्वा भूतानीति शास्त्रादवगतं पुनः शास्त्रेणैव बाध्यते 'अध्वरे पशुं हिंस्यादिति। [८]एवं विद्याविद्ययोरपि स्यात्। [९]विद्याकर्मणोश्च समुच्चयो।**

'अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमृत को प्राप्त करता है' 'विनाश से मृत्यु को पार कर संभूति से अमृत को प्राप्त करता है' यह सुन कर कुछ लोग संशय करते हैं। इसलिए उस संशय के निराकरण के लिए संक्षेप से विचार करेंगे। तो बताइये कि किस निमित्त को लेकर संशय है। पूर्वपक्षी कहता है - विद्या शब्द से मुख्य परमात्मविद्या और अमृत शब्द से मुख्य मोक्ष रूप अमृत क्यों न ग्रहण किया जाए ? सिद्धान्ती - कहे गये परमात्मविद्या और कर्म का विरोध होने से समुच्चय संभव नही है। पूर्वपक्षी - सत्य है। विरोध ज्ञात नहीं होता है, क्योंकि विरोध और अविरोध दोनों में शास्त्र प्रमाण है। जैसे अविद्या (कर्म) का अनुष्ठान और विद्या अर्थात् उपासना शास्त्र प्रमाणक है वैसे ज्ञान और कर्म में विरोध और अविरोध भी शास्त्र प्रमाणक है। जैसे किसी भी प्राणि की हिंसा न करें यह शास्त्र से ज्ञात है फिर भी यज्ञ में पशु हिंसा करें इस शास्त्र से बाधित हो जाता है। इस प्रकार विद्या और अविद्या अर्थात् ज्ञान और कर्म दोनों शास्त्र प्रमाणक होने से समुच्चय हो सकता है।

१. इति श्रुत्वेति - इस प्रकार हमारे कहे गये अर्थ को सुनकर २. संशयम् - क्या विद्या शब्द का अर्थ तत्त्वज्ञान है या कुछ और। ३. कुर्वन्ति - करिष्यन्ति। करेंगे। ४. शंका - व्याख्यान, निर्णय के लिए होने से कैसी शंका इस प्रकार आशंका का समाधान देते हैं - तत्र तावदित्यादिना। ५. कस्मान्न गृह्यत इति - मुख्य अर्थ के त्याग में हेतु न दीखने से संशय होता है। ६. अमृतत्त्वं चेति - यहाँ पर भी मुख्य अमृत या आपेक्षिक अमृत यह संशय है। अथवा संशय कुर्वन्ति का अर्थ आक्षेप है। किं निमित्त का अर्थ है किम् आकारक। अर्थात् किमाकारक संशय। किस प्रकार के संशय। प्रकार को कहते हैं -विद्याशब्देनेति। ७. यथा चेत्यादि - जैसे यज्ञ से भिन्न अन्यत्र हिंसा का 'न हिंस्यात्' इस शास्त्रोक्त हिंसा से विरोध क्योंकि वहाँ हिंसा अशास्त्रिय है। अध्वर-यज्ञ में उसका विरोध नहीं क्योंकि यह शास्त्रीय होने से विरोध नहीं है। अध्वर में हिंसा स्वरूप से हिंसा होने पर भी पाप का जनक न होने से

अहिंसा ही है। वहाँ हिंसा और अहिंसा साथ साथ रहते हैं। इसलिए शास्त्रीय और अशास्त्रीय का विरोध है। किन्तु दोनों शास्त्रीय हो तो विरोध नहीं है। ८. एवं विद्याविद्ययोरपि स्यात् - विद्या और अविद्या साथ साथ अनुष्ठान शास्त्र से ही विहित होनेसे उनका विरोध नहीं है। ९. इस प्रकार अविरोध होने से सिद्ध अभिष्ट को पूर्वपक्षी कहता है - विद्याकर्मणोश्च समुच्चय इति। यहाँ च कार का अर्थ तथा सति।

टीका - अमृतत्त्वं च - मुख्य अमृतत्त्व क्यों ग्रहण नहीं करते हो यह संबन्ध है। शास्त्रीय ज्ञान और कर्म का शास्त्रीय विरोध और अविरोध ग्रहण योग्य है तर्क मात्र से नहीं जो पूर्वपक्षी कहता है। सिद्धान्ती तो शास्त्र सिद्ध विरोध दिखाते हैं - **न। 'दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति।' (क. १.२.४) इति श्रुतेः। विद्यां चाविद्यां चेतिवचनादविरोध इति चेन्न। [1]हेतुस्वरूप फलविरो-धात्। विद्याविद्या[2]विरोधाविरोधयो[3]र्विकल्पासम्भवात्[4]समुच्चयविधाना-दविरोध एवेति चेन्न। सहसम्भवानुपपत्तेः। क्रमेणैकाश्रये स्यातां विद्याविद्ये इति चेत्।** *सिद्धान्ती - नहीं। क्योंकि कठ उपनिषद में कहा है कि ये दोनों अत्यन्त विपरीत भिन्न फल देने वाले हैं। पूर्वपक्षी - विद्यां च अविद्यां च इस शास्त्र वचन से अविरोध है ऐसे कहें तो? सिद्धान्ती - नहीं। हेतु, स्वरूप तथा फल भेद के कारण अविरोध नहीं कह सकते। पूर्वपक्षी- विद्या और अविद्या तथा उनके विरोध और अविरोध इनमें विकल्प के असंभव होने से समुच्चय के विधान से अविरोध ही है इस प्रकार कहें तो। सिद्धान्ती - नहीं। दोनों के साथ साथ होना संभव नहीं है। पूर्वपक्षी- क्रम से एक आश्रय में अर्थात् एक व्यक्ति में विद्या और अविद्या हो सकता है, ऐसा कहें तो?*

१. हेतुस्वरूपफलविरोधादिति - वहाँ आत्मा में कर्तृत्व आदि का अध्यास और अर्थित्व आदि अविद्या का हेतु। विवेक आदि पूर्वक मुमुक्षा विद्या का हेतु। इस प्रकार दोनों हेतुओं में विरोध है। वाक्य से उत्पन्न तत्त्व को

अवगाहन करने वाली अन्य इन्द्रिय-चेष्टा रहित मानसिक परिणाम विशेष विद्या का स्वरूप है। समस्त इन्द्रिय क्रिया समूह तो अविद्या का स्वरूप है। इस प्रकार दोनों में स्वरूप विरोध है। नित्य सुख विद्या का फल और अनित्य अविद्या का फल है, इस प्रकार फल का विरोध है। इसलिए। वचन ज्ञापक होता है कारक नहीं होता है जिससे तुम हेतु आदि के विरुद्ध को अविरुद्ध करोगे। हमारे कहे गये अर्थ से वचन निराकांक्ष होनेसे तुम्हारे अभिष्ट अर्थ अनापादक है- सही नहीं है। २. विरोधाविरोधयोरिति - दूरमेंते विपरीते तथा विद्यांचाविद्यां च इन श्रुतियों से अवगव हुए। ३. विकल्पासंभवादिति - विकल्प साध्य एक विषय होने से अर्थात् साध्य को ही विषय करने से तथा विरोधाविरोध सिद्ध होने से पुरुष प्रयत्न तर्क आदि असाध्य होने से विकल्प संभव नहीं है। यह भाव है। ४. समुच्चयविधानादिति - विद्यांचाविद्यां च यह विधि होने से दूरमेते इत्यादि तो श्रेय और उसके कामनावाले की प्रशंसा प्रसंगसे कहे गये अर्थवाद होने से, वेद में विधि और अविधि में विधि ही बलवान् होता है, यह निश्चय होने से अर्थवाद को विधि के अनुकूल ही ग्रहण करना चाहिए, इन हेतुओं से समुच्चय अभाव के विपरीत अर्थात् समुच्चय बोधकत्व कल्पना से अविरोध अर्थात् निर्विरोध है। यह भाव है।

टीका - विद्या और अविद्या विषूची अर्थात् नानागती (भिन्न फल वाले हैं)। दूरं विपरीते अर्थात् अतिशय विरुद्ध हैं। सहसंभावना अनुपपत्ति - (व्यवस्थित विकल्प यहाँ कल्पित होता है ऐसा संकल्प करके आक्षेप करते हैं) इसमें अनुपत्ति क्या है ? (विकल्प की व्यवस्था करते हैं) कठ उपनिषद में विरोध सुना जाता है। कठ उपनिषदका विद्या और अविद्या का विरोध भले रहे यहाँ ईशावास्य में तो अविरोध होगा इस प्रकार नहीं कहना चाहिए। विरोध और अविरोध के अंधकार प्रकाश के समान सिद्ध होने से विकल्प असंभव है। उदित और अनुदित होम पुरुषतन्त्र होने से वहाँ विकल्प संभव है यह मीमांसा में कहा गया है। तब समुच्चय विधि के बल से अविरोध ही मान लो। ऐसी शंका होने पर कहते हैं। नहीं। मुख्यविद्या और अविद्या में शुक्तिज्ञान और अज्ञान के समान सह अस्तित्व असंभव होने से

समुच्चय विधि असिद्ध है। (समुच्चय विधि के सिद्ध होने पर उससे अविरोध का ज्ञान और अविरोध के ज्ञान से समुच्चय की सिद्धि यह अन्योन्याश्रय दोष होगा।) सह संभव न होने से क्रम से एक आश्रय में विद्या और अविद्या हो सकता है ऐसी शंका हो तो पहले अविद्या बाद में विद्या ऐसा क्रम तो हमें इष्ट है। किन्तु विद्या के बाद अविद्या कहोगे तो असंभव है इस बात को कहते हैं – **न।**
विद्योत्पत्तावविद्याया ह्यस्तत्वात्तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः। न ह्यग्निरुष्णः प्रकाशश्चेति विज्ञानोत्पत्तौ यस्मिन्नाश्रये तदुत्पन्नं तस्मिन्मेवाऽऽश्रये शीतोऽरप्रकाशो वेत्य[1]विद्याया उत्पत्तिर्नापि संशयोऽज्ञानं वा '[2]यस्मिन्स-र्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुप-श्यतः इति शोकमोहाद्यसंभवश्रुतेः। *नहीं। क्योंकि विद्या की उत्पत्ति से अविद्या अस्त हो जाने से उस आश्रय में अविद्या संभव नहीं है। अग्नि उष्ण और प्रकाश स्वभाव वाला है, ऐसा ज्ञान उत्पन्न होने के बाद जिस आश्रय में वह ज्ञान उत्पन्न हुआ है उस आश्रय में अग्नि ठण्डा और प्रकाश रहित है ऐसा अज्ञान की उत्पत्ति या संशय या अज्ञान नहीं होता है। ' जिस ज्ञानी में सब भूत अर्थात् प्राणि आत्मा ही हो गया है अर्थात् अपने स्वरूप से अभिन्न हो गया है, ऐसे आचार्य से शास्त्र श्रवण के बाद एकत्व देखने वाले ज्ञानी को मोह और शोक का अबसर कहाँ ?' इस प्रकार शोक मोह आदि के असंभव श्रूति ने कहा है।*

१. अविद्यायाः – भ्रमस्य-भ्रमका। २. दृष्टान्त में निर्दिष्ट को दार्ष्टान्तिक में स्पष्ट करते हैं – यस्मिन्निति।

टीका – ज्ञान से पूर्वसिद्ध अविद्या प्रध्वस्त होने से, अन्य अविद्या की उत्पत्ति में कारण के असंभव से, मूल अज्ञान के अभाव से विद्वान को भ्रम, संशय और अग्रहण की प्राप्ति नहीं है, यह अर्थ है।

विद्या की उत्पत्ति से अविद्या भले न हो कर्म तो होगा विद्वानों में भी व्याख्यान, भिक्षाटन आदि देखे जाते हैं ऐसी आशंका होने पर कहते हैं – **अविद्याऽसंभवात्तदुपादानस्य कर्मणोऽप्यनुपपत्ति[१]म-वोचाम।** *अविद्या के असंभव होने से उस अविद्या से होनेवाले कर्म की अप्राप्ति हम कह आये हैं।*

१. अवोचाम – आरंभ भाष्य में वहां वहां अनेक बार कह चूके हैं।

टीका – आप चोदना से प्रयुक्त अनुष्ठान (वैदिक विधिवाक्य से प्रयुक्त विहित अनुष्ठान) रूप कर्म का ज्ञान के साथ समुच्चय चाहते थे, ब्रह्म और आत्मा के एकत्व साक्षात् अनुभव से प्राप्त है, वहाँ कामनावाले के लिए ही समस्त विधि वाक्य है। चोदना संभव नहीं है, क्योंकि ज्ञानी में कामना का अभाव है। **'अकामिनः क्रिया काश्चिद्दृश्यते नेह कस्यचित्। यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्।।'** किसी कामना रहित पुरुष में कोई क्रिया नहीं देखी जाती है। प्राणि जो जो भी करता है वह कामना की चेष्टा है अर्थात् कामना से प्रेरित होता है। विद्वान की शरीर-स्थिति के हेतु अविद्या-लेश के आश्रित कर्मशेष-प्रारब्ध के निमित्त ही भिक्षा आदि चेष्टा होती है, कर्मचोदना के होने से नहीं। जब तक प्राण का शरीर के साथ संयोग है वह कर्माभास है, उसे भी विद्वान अपने में नहीं मानता है, क्योंकि कर्म का अध्यास का कारण अविद्या का असंभव है। **नैव किंचत्करोमीति** – मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ ऐसे ज्ञान होने से वह कुछ भी नहीं करता है।

जो शंका की थी कि अमृत शब्द से मुख्य अमृत तथा विद्या शब्द से परमात्मविद्या का ग्रहण क्यों नहीं हो सकता है इस पर कहते हैं – **'अमृतमश्नूते' इत्यापेक्षिकममृतं विद्याशब्देन परमात्म-विद्याग्रहणे हिरण्मयेनेत्यादिना द्वारमार्गादियाचनमनुपपन्नं स्यात्तस्मा-दुपासनया समुच्चयो न परमात्मविज्ञानेनेति यथाऽस्माभिर्व्याख्यात एव मन्त्राणामर्थ इत्युपरम्यते।। १८।।**

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशंकरभगवतः कृतं वाजसनेयसंहितोपनिषद्भाष्यं सम्पूर्णम्।

'अमृतमश्नुते' इससे आपेक्षिक अमृत कहा गया है। विद्या शब्द से परमात्म विद्या का ग्रहण करने पर हिरण्मय इत्यादि मंत्रों से द्वार अर्थात् मार्ग की याचना अयोग्य होगा अर्थात् सिद्ध नहीं होगा। इसलिए उपासना के साथ समुच्चय का विधान है, परमात्म-ज्ञान के साथ नहीं। इस प्रकार हमने जैसी व्याख्या की है, वैसा ही मंत्रों का अर्थ है। अब विश्राम लेते है।

इस प्रकार पूज्यपाद भगवान श्रीगोविन्द जी के शिष्य परमहंस परिव्राजकाचार्य भगवान श्रीशंकर द्वारा किया गया वाजसनेय संहिता के ईशावास्य उपनिषद् के भाष्य की समाप्ति हुई।।

टीका - मुख्य अमृतत्त्व के ग्रहण करने पर हिरण्मय आदि मंत्र के द्वारा मार्ग की याचना अयोग्य होगा क्योंकि **'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ४.४.६)** उस का (निर्विशेष ब्रह्म साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी का) प्राण नहीं निकलते हैं, **'अत्र ब्रह्म समश्नुते' (कठ.२.३.१४)** शरीर में रहते हुए ब्रह्म को प्राप्त होता है, इत्यादि श्रुति से यह सिद्ध होता है। इससे मुख्य अर्थ के बाध होने से गौण अर्थ का ग्रहण सही है, यह अर्थ है। भाष्य में तस्मात् का अर्थ करते हैं - जिसलिए अन्य अर्थ संगत नहीं है इसलिए उपसंहार करते हैं।। १८।।

टीका - **ईशाप्रभृतिभाष्यस्य [1]शांकरस्य [2]परात्मनः।**
मन्दोपकृतिसिद्धयर्थं प्रणीतं टिप्पणं स्फुटम्।।

मन्दबुद्धि साधकों के उपकार की सिद्धि के लिए मैंने परमात्मा शंकराचार्य जी के भाष्य पर स्पष्ट टिप्पण अर्थात् टीका की है।

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञान-कृता वाजसनेयसंहितोपनिषद्भाष्यटीका समाप्ता।।

इस प्रकार परमहंस परिव्राजकाचार्य पूज्यपाद भगवान श्रीशुद्धानन्द के शिष्य भगवान आनन्द गिरि द्वारा किया गया वाजसनेय संहिता के ईशावास्य उपनिषद् की टीका समाप्त हुई।

टीप्पणी – १. शंकरेण प्रोक्तं शांकरं तस्य शांकरस्य। शंकराचार्य जी के द्वारा कहे गये भाष्य का। २. परात्मनः – परम् आत्मा यस्मिन् सः परमात्मा, तस्य परमात्मनः यह विग्रह है। जिसमें परमात्मा है अर्थात् परमात्मा-स्वरूप। अथवा जो पर ब्रह्म, आत्मा से भिन्न भासित हो रहा है, उसे सबकी आत्मा रूप से जिसने प्रतिपादित किया है उस परमात्मा शंकराचार्य, उनका भाष्य। अथवा पर अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा स्वरूप है जिनकी वह शंकराचार्य। उत्कृष्ट का अर्थ है उनके भाष्य से श्रेष्ठ और किसी का भाष्य नहीं है। अर्थात् भूत और भविष्यत में उनके भाष्य के साथ कोई स्पर्धा नहीं कर सकता है। **गुरोरधीत्य विधिवत् कृतमात्मविशुद्धये। आनन्दविष्णुदेवेन गिरिणाऽत्र सुटिप्पणम्।।** विधिपूर्वक गुरु जी से अध्ययन करने के बाद अपनी आत्मा (बुद्धि) की शुद्धि के लिए विष्णुदेवानन्द गिरि नाम वाला मैंने यह टिप्पणी की है।

इति श्रीशांकरभाष्योपेतेशावास्योपनिषदः श्री मन्महामण्डलेश्वरस्वामिगोविन्दानन्दगिरिपादशिष्यविद्यावाचस्पतिश्रीमन्महामण्डले-श्वरस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिविरचिता गोविन्दप्रसादिनीटिप्पणी समाप्तिं गता।।

इस प्रकार श्रीमहामंडलेश्वर स्वामी गोविन्दानन्द गिरि चरण सेवक विद्यावाचस्पति श्री महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि द्वारा विरचित श्रीशंकरभाष्य सहित ईशावास्योपनिषद की गोविन्द प्रसादिनी टिप्पणी समाप्त हुई।।

श्रीकैलास आश्रम ब्रह्मविद्यापीठ के आचार्य विरक्तशिरोमणी तपस्वी ब्रह्मनिष्ठ स्वामी हरिहर तीर्थ चरण कमल चंचरीक स्वामी विष्णु तीर्थ जी द्वारा यह भाषानुवाद अंग्रेजी ०१.०५.२०२१ से प्रारंभ होकर आज २८.०५.२०२१ को समाप्त हुआ।।

।। ओम् तत्सत्।।

यहां पर भाष्य पर जो टिप्पणियां दी गयी उन्हें संख्याओं से चिह्नित कर भाष्य के नीचे दी गयी है। तथा टीका पर जो टीप्पणियाँ दी गयी उन्हें टीके के साथ छोटे अक्षरों में कोष्ठकों में दी गयी है।

टीका टीप्पणी संस्कृत में लिख कर उनका हिन्दी अनुवाद करने से पुस्तक का कलेवर बड़ा हो जाता तथा समय अधिक लगता, इसलिए मैंने टीका एवं टिप्पणियों का केवल हिन्दी अनुवाद किया है। संस्कृत भाषा के जानकारों के लिए हिन्दी की आवश्यकता ही नहीं है।

सामान्य संस्कृत जानने वालों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी होगा यह मेरा विश्वास है। आज कल कुछ संस्कृत अनभिज्ञ महात्माओं को मैं online यह ग्रन्थ पढ़ा रहा हूँ। उनके लिए मैंने यह अनुवाद किया है। उपनिषदों का अध्ययन गुरुमुख से ही करना चाहिए।

मंत्र १७ वायुरनिलं